सीमित वितरण हेतु प्रकाशित

देखी सुनी

वर्ष 2014, अंक 31

"घर से विश्व शांति तक: आओ सैनिकीकरण को चुनौती दें और महिला हिंसा को मिटायें – जेंडर आधारित हिंसा के विरुद्ध १६ दिवसीय अभियान २०१४" अंतर्राष्ट्रीय विषय

प्रिय साथियों!

स्त्री विरोधी लैंगिक, यौनिक व न्यायिक हिंसा की जड़ों को तलाशता हमारा यह अंक संकलन है–कार्यस्थल पर होने वाले लैंगिक भेदभाव व यौनिक हिंसा के विभिन्न पहलुओं पर, महिला सुरक्षा व न्याय का औचित्य, विवाह में असमानता, हिंसा व समता के उदाहरण, शौच व बलात्कार की सामाजिक संरचना, किशोर की उम्र व क़ानून पर नज़रिया, कुछ नीतिगत् घोषणाएं।

अंक के प्रारम्भ में 16 दिवसिय अभियान के मददे्नजज़र जागोरी की पुरानी पर्ची आपसे बांट रहे हैं। आशा है ये पर्ची व अन्य जानकारी आपके आने वाले कार्यक्रमों, आयोजनों व कार्यों में सहयोगी संदर्भ प्रमाणित होगी। संबंधित अनुभव व सुझाव हमसे अवश्य साझा करें।

नीतू रौतेला
जागोरी संदर्भ समूह

महिला हिंसाः विरोध के बढ़ते कदम

जेंडर आधारित हिंसा के खिलाफ़ 16 दिन का अंतर्राष्ट्रीय अभियान 25 नवंबर (*अंतर्राष्ट्रीय महिला हिंसा विरोधी दिवस*) से 10 दिसंबर (*अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार दिवस*) तक मनाया जाता है, जो इस बात पर जोर देता है कि महिला हिंसा मानवाधिकारों का हनन है। **16 दिन की इस अवधि में कई महत्वपूर्ण तारीखें आती हैं, जैसे– 30 नवंबर (*शांति और न्याय के लिए दक्षिण एशियाई दिवस*), 1 दिसंबर (*विश्व एड्स दिवस*), 3 दिसंबर (*विश्व विक्लांगता दिवस*) और 6 दिसंबर जो बाबरी मस्जिद के विध्वंस की याद दिलाता है।**

आज घर से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक महिलाओं पर अनेक रूपों में भेदभाव, और हिंसा हो रही है। बात चाहे घर में होने वाली हिंसा की हो या फिर राज्य द्वारा समर्थित हिंसा, शांति के नाम पर सैनिक कार्रवाइयों या फिर युद्धजन्य हालातों में औरतों के साथ होने वाली हिंसा की, हर स्तर पर महिलाओं के नागरिक और मानवाधिकारों को दोयम और कमतर रखा जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'सीडॉ' (*महिला हिंसा और भेदभाव को खत्म करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संधि*) के हस्ताक्षरकर्ता सदस्य होने के बावजूद हमारे शासन, कानून और न्याय व्यवस्था घरेलू हिंसा जैसे मुद्दों पर व्यवहारिक रूप से उदासीन नजर आती है। सीडॉ पर हस्ताक्षर किए हुए हमारी सरकार को साठ साल हो गए हैं, मगर आज भी शासन प्रशासन द्वारा महिला हिंसा को मानवअधिकार का हनन स्वीकारने व महिलाओं के नागरिक हकों के लिए संघर्ष जारी है।

देश के उत्तर और पूर्वी राज्यों में, राष्ट्रवाद के नाम पर नक्सलवाद, माओवाद, आतंकवाद को खत्म करने की प्रक्रिया में हजारों महिलाएं यौनिक हिंसा का शिकार होती हैं। राजहित की आड़ में महिलाओं की सुरक्षा, उनकी राष्ट्रभक्ति और मानवहित को राज्य–सत्ता द्वारा नकारा जाता है। हम धर्म, जाति, नस्ल, राष्ट्र और राष्ट्रहित के नाम पर महिलाओं के शरीर को एक युद्ध का मैदान (बैटल–ग्राउंड) बना दिये जाने का विरोध करते हैं।

इसलिए एक नागरिक और मानवीय अस्तित्व के रूप में महिलाओं की स्वतंत्रता, सुरक्षा और बराबरी के हक के लिए यह 16 दिवसीय अभियान संगठित किया जाता है, जिसमें महिला हिंसा के खिलाफ़ प्रभावशाली रणनीतियां तय करते हुए राज्य पर दबाव बनाया जाता है कि वह महिलाओं के मानवाधिकारों को सुरक्षित और सुनिश्चित करे।

यह सुनिश्चित करना सरकार ही नहीं, हम सभी का कर्त्तव्य है कि महिलाएं/लड़कियां तथा उनके मानवाधिकार घर व समाज में सुरक्षित हों। इसलिए देश भर में चल रहे अभियानों (धरना, मोमबत्ती जलाकर पदयात्रा, साइकिल रैली) में हर स्त्री–पुरुष को शामिल होकर अपनी नागरिक और मानवीय ज़िम्मेदारी को पूरा करना चाहिए।

इस संघर्ष को अपना मान कर इसके साथ जुड़ें व हिंसामुक्त समाज बनाने के लिए आगे आयें।

डर में जीना छोड़ दो ।
अपनी आवाज़ बुलंद करो ।।

नाइट शिफ्ट में महिलाएं और माहौल

मुद्दा

मनीषा सिंह

सरकार चाहती है कि देश की कामकाजी महिलाएं कारखानों में पुरुष सहयोगियों की तरह रात्रिकालीन पालियों में भी काम करें। इसके लिए लोकसभा में फैक्ट्रीज एक्ट, 1948 के संदर्भ में संशोधन विधेयक पेश किया गया। विधेयक में प्रस्ताव है कि कई अन्य व्यवस्थाएं बनाने के अलावा कामकाजी महिलाओं के नन्हे शिशुओं के लिए फैक्ट्री के अहाते में विश्रामगृह की व्यवस्था कारखाने और कंपनियां करें। साथ ही, वे महिला कर्मचारियों के लिए रात की पाली में काम करने का माहौल भी बनाएं। विधेयक में प्रावधान है कि यदि कंपनी चाहती है कि महिलाएं नाइट शिफ्ट में भी काम करें, तो इसके लिए सुरक्षा के पर्याप्त प्रबंध उसे बनाने होंगे।

विधेयक का प्रस्ताव प्रगतिगामी है, देश में महिलाओं के सशक्तिकरण और उत्पादकता में वृद्धि के नजरिये से क्रांतिकारी है, पर माहौल, सुरक्षा के प्रबंध और समाज की मानसिकता जैसे पहलुओं के मद्देनजर यह काम काफी मुश्किल है। यही वजह है कि आज भी ज्यादातर फैक्ट्रियों और बड़े शहरों में कंप्यूटर, प्रबंधन और मीडिया से जुड़ी कंपनियों में से कुछ में ही महिलाएं रात्रिकालीन पालियों में काम करती नजर आती हैं। आज तो इससे संबंधित कानूनों में ही महिलाओं से रात आठ से प्रातः सात बजे के बीच काम लेने की अनुमति नहीं है। जैसे राजधानी दिल्ली के शॉप्स एंड इस्टेब्लिशमेंट एक्ट 1954 में प्रावधान है कि किसी भी व्यावसायिक परिसर में महिला कर्मचारियों से सुबह सात से रात आठ बजे तक ही काम लिया जा सकता है। दिल्ली में कुछ बड़े होटल समूहों को इसमें छूट दी गई थी, लेकिन बिगड़ती कानून-व्यवस्था और महिलाओं पर हुए यौन हमले की घटनाओं के मद्देनजर वहां भी यह छूट हटाई जा चुकी है। इसी तरह 2005 में फैक्ट्रीज एक्ट में संशोधन करके आईटी और टेक्सटाइल इंडस्ट्री की कंपनियों में महिलाओं को रात में सीमित अवधि तक काम करने की छूट अवश्य दी गई थी, लेकिन अब भी ऐसी अधिकतर कंपनियों में रात में काम करने वाली महिलाओं की संख्या बेहद कम है।

कामकाजी महिलाओं की नाइट शिफ्ट से जुड़ा पहला सवाल उनकी सुरक्षा का है। महिलाओं के साथ पिछले कुछ वर्षों में जैसी घटनाएं देश में घटित हुई हैं, उन्हें देखते हुए किसी कारखाने में देर तक महिला का रुके रहना खतरे से खाली नहीं लगता है। बीते कुछ समय में इस बारे में जो सर्वेक्षण हुए हैं, उनमें महिलाओं का असुरक्षाबोध और उन पर पड़ रहे दबाव खुलकर उजागर हुए हैं। जैसे, दिल्ली में गैंगरेप की बेहद अफसोसजनक घटना के बाद आर्थिक संस्था एसोचैम ने महिलाओं की सुरक्षा के संबंध में 2013 में दिल्ली और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र की करीब 2500 महिलाओं, आईटी, बीपीओ कंपनियों में काम करने वाली लड़कियों के साथ ही मुंबई, कोलकाता, बेंगलुरु, हैदराबाद, अहमदाबाद, पुणे और देहरादून में एक सर्वे किया था। सर्वे का निष्कर्ष यह था कि दिल्ली हादसे के बाद महिलाएं और छात्राएं पहले के मुकाबले अब खुद को ज्यादा असुरक्षित मानने लगी हैं। रात की पाली में काम करने वाली महिलाओं में असुरक्षा का डर काफी ज्यादा पाया गया और इसकी वजह से उन्होंने अपनी लगी-लगाई नौकरी छोड़ने की बात

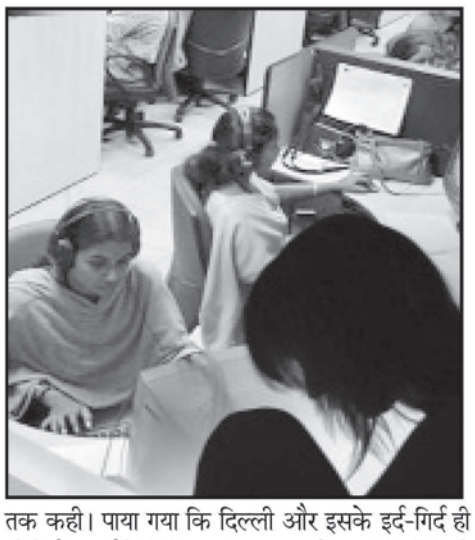

तक कही। पाया गया कि दिल्ली और इसके इर्द-गिर्द ही बीपीओ, आईटी, सिविल एविएशन, नर्सिंग व हॉस्पिटिलिटी आदि क्षेत्रों में काम कर रही महिलाओं में 92 फीसद नाइट शिफ्ट में काम नहीं करना चाहतीं। नर्सिंग जैसे क्षेत्र में, जहां महिलाओं को दिन-रात की परवाह किए बिना काम करना होता है, वहां भी करीब 83 फीसद नर्सें रात की पाली में खुद को असुरक्षित महसूस करती हैं। इनमें 62 फीसद ने माना है कि वे बेहतर वेतन के लिए रात की पालियों में काम कर रही हैं लेकिन छेड़छाड़ और यौन उत्पीड़न की घटनाओं को देखते हुए अब उन्हें इस बारे में गंभीरता से विचार करना होगा। बेंगलुरू में 85 फीसद महिलाएं रात की पाली में खुद को असुरक्षित मान रही हैं तो कोलकाता की करीब 82 फीसद महिलाएं रात की पाली में काम नहीं करना चाहतीं।

महिलाओं के करियर (नौकरी या व्यवसाय) से जुड़े मुद्दों में असुरक्षा के अलावा पारिवारिक-सामाजिक दबावों की भी गिनती होती है। एक तरफ उन्हें अपनी सुरक्षा की फिक्र सताती है तो दूसरी तरफ नौकरी के साथ गृहस्थी संभालने की चिंता भी करनी होती है। मैनेजमेंट कंसल्टेंसी मैकेंजी एंड कंपनी ने दो साल पहले जुलाई 2012 में किए गए अपने सर्वेक्षण की रिपोर्ट में कहा था कि नौकरी और गृहस्थी का दोहरा भार कॉरपोरेट जगत में भारतीय महिलाओं के आगे बढ़ने में सबसे बड़ी अड़चन है। ऐसी डबल शिफ्ट के कारण भारत में अधिकतर महिलाएं तब नौकरी छोड़ देती हैं जब वे करियर के मध्य में होती हैं और शीर्ष पदों पर उनके पहुंचने की संभावना बन रही होती है। भारत, कोरिया, जापान, ऑस्ट्रेलिया, चीन, हांगकांग, सिंगापुर आदि देशों की महिलाओं के बीच कराए गए इस सर्वेक्षण में यह बात भी सामने आई कि ज्यादातर एशियाई कंपनियां महिलाओं की सुरक्षा व नौकरी-गृहस्थी के दायित्वों में सामंजस्य बिठाने में कोई मदद इसलिए नहीं करना चाहती हैं क्योंकि नौकरी में महिलाओं की संख्या बढ़ाना उनके अजेंडे में ही नहीं है। ज्यादातर कंपनियों के वरिष्ठ प्रबंधकों की राय के मुताबिक महिलाओं को लेकर इन हालात में फिलहाल कोई तब्दीली होने की उम्मीद नहीं है।

साफ है कि एक तरफ कंपनियां महिलाओं को ऊंचे पदों पर ले जाने में कोई मदद नहीं करना चाहतीं और दूसरी तरफ समाज भी मददगार साबित नहीं हो रहा है। नाइट शिफ्ट के संबंध में सरकार का प्रयास यूं कामकाजी महिलाओं के पक्ष में लगता है, पर सच यह है कि ज्यादातर कंपनियों में कामकाज की शैली महिलाओं की आवश्यकताओं के अनुकूल इसलिए नहीं है क्योंकि उन्हें सरकार या समाज ने वह सोशल इंजीनियरिंग अपनाने को प्रेरित ही नहीं किया है जिसमें दुनिया की आधी आबादी की जरूरतों के हिसाब से माहौल बनाया जाता है। समाज की आम प्रतिक्रिया भी इस बारे में निराशा बढ़ाने वाली होती है। रात्रि पाली में काम करने वाली महिला पर तरह-तरह के लांछन लगते हैं, चाहे वह कितनी ही मजबूरी में काम पर क्यों न जा रही हो। भारतीय महिलाओं की सबसे बड़ी विडंबना यही है। दिन भर पति, परिवार व समाज के हाथों कठपुतली की तरह नाचने के बाद रात की पाली में बेहद विपरीत माहौल में काम करने को मजबूर महिलाओं को अंधेरे से नहीं डर लगता, बल्कि सड़क पर या बसों में सफर करते वक्त अपनी सुरक्षा व शारीरिक छेड़छाड़ का खयाल सताता है। विडंबना यह है कि ये सारी मुश्किलें आज से दस साल पहले भी उनके सामने दरपेश थीं। समस्या यह है कि 21वीं सदी का करीब डेढ़ दशक बीतने के बाद भी देश-समाज की मंशा महिलाओं को वास्तव में सशक्त होते देखने की नहीं है। शायद इस सबके पीछे हमारे पुरुषप्रधान समाज का वह छोटा सा डर यह हो कि यदि कहीं महिलाएं सच में पुरुषों से आगे निकल गईं, तो उनका और उनकी सत्ता का क्या होगा!

राष्ट्रीय सहारा 16.08.2014

कानून के अनुसार.....

आपराधिक कानून (संशोधन) विधेयक 2013, नीचे दिए गए भारतीय दण्ड संहिता (आईपीसी) के धारा के अंतर्गत, यौन उत्पीड़न के अपराधी को दण्डनीय और गैरकानूनी ठहराता है और सजा देता है:

धारा 294: अश्लील हरकतें और गाने–जो कोई भी करता है जिससे अन्य को परेशानी होती है:
1) किसी भी सार्वजनिक जगह पर अश्लील हरकत करता है, या
2) कोई भी अश्लील गाने गाता, उच्चारित करता या शब्द का इस्तेमाल किसी सार्वजनिक जगह पर करता है, उसे 3 महीने का कारावास या जुर्माना या दोनों हो सकती है।

धारा 354: जो कोई भी महिला के शील को भंग करने या ऐसा करने का इरादा लिए उत्पीड़न या अन्य अपराध का इस्तेमाल करता है, उसे कारावास या जुर्माना या फिर दोनों ही सज़ा हो सकती है।
क) यौन उत्पीड़न –
1) शारीरिक संपर्क और यौनिक फ़ायदा उठाना जा अनचाहा हो।
2) यौनिक संपर्क के निए निवेदन या मांग करना
3) महिला की मर्जी के ख़िलाफ़ उसे अश्लील पोर्नोग्राफी दिखाना।
4) यौनिक और अश्लील टिप्पणी करना।
सज़ाः कारावास जो 3 साल तक बढ़ सकती है या जुर्माना या फिर दोनों ही।
ख) किसी महिला को बेआबरू (नग्न) करने के इरादे से उस पर आपराधिक हमला करना।
सज़ाः इसकी सज़ा तीन साल से कम की नहीं है और सात साल भी बढ़ाई जा सकती है। और जुर्माना भी हो सकता है।
ग) चलचित्र बनाना और दिखाना (किसी महिला की नीजि क्षणों या कोई क्रिया करते हुए उसकी तस्वीर निकालना)
सज़ाः (पहली बार अपराध स्वीकारने पर) इसके लिए एक साल से कम की सज़ा नहीं है। जो तीन साल और जुर्माना तक भी बढ़ाई जा सकती है। दोबारा यही अपराध करने पर, कारावास की सज़ा तीन साल से कम नहीं है। जो जुर्माना और सात साल तक बढ़ाई जा सकती है।
घ) पीछा करना (किसी महिला का पीछा करना और उससे संपर्क करने की कोशिश करना, या फिर महिला की अरूचि के बावजूद उससे व्यक्तिगत संपर्क बनाने की कोशिश करना या महिला द्वारा इस्तेमाल किए जा रहे इंटरनेट, ईमेल या अन्य कोई इलेक्ट्रॉनिक माध्यम की निगरानी करना)
सज़ाः कारावास की सज़ा जो तीन साल तक बढ़ सकती है। अपराध दोहराने पर कारावास की सज़ा पाँच साल तक बढ़ाई जा सकती है और जुर्माना भी हो सकता है।
सेक्शन 509: किसी महिला के शील को भंग करने के इरादे से कोई शब्द उच्चारित करना या भाव–भंगिमा बनाना।
सज़ाः तीन साल की कारावास और जुर्माना।

कार्यस्थल पर महिलाओं के साथ होने वाला यौन उत्पीड़न (रोकथाम, निषेध और सुधार) एक्ट 2013 ''कोई भी महिला किसी भी कार्यस्थल पर, चाहे वह नीजि हो या सार्वजनिक, चाहे वह वहां नौकरी करती हो या नहीं, उसके साथ यौन उत्पीड़न नहीं हो सकता।''

यौन उत्पीड़न को परिभाषित किया गया है एस.3 (2) एस एच ए के अंतर्गत:
1. लागू किया जाने वाला और विशिष्ट
क. नौकरी में पक्षपातपूर्ण रवैया होने का आश्वासन देना
ख. नौकरी में पक्षपातपूर्ण रवैया होने की धमकी देना
ग. उसके पिछले और भविष्य के नौकरी की स्थिति की धमकी देना।
2. उसके काम में दख़ल देना या उसके लिए धमकी भरा, भयपूर्ण और शत्रुतापूर्ण काम का माहौल तैयार करना।
3. तिरस्कार पूर्ण व्यवहार का उसके स्वास्थ्य और सुरक्षा पर असर होना।
कार्यस्थल एस.2(0) के अंतर्गत वे हैं
1. एक सरकारी विभाग/संस्था
2. एक नीजि क्षेत्र संस्थान/संस्था
3. अस्पताल/नर्सींग होम
4. खेल कॉम्पलेक्स
5. वे सारी जगहें शामिल हैं जो नौकरी के दौरान एक कर्मी दौरा करती है। यहां तक कि वे यातायात के साधन भी इसमें शामिल हैं जिन्हें मालिक ने इस्तेमाल के लिए उपलब्ध कराया है।

जागोरी द्वारा प्रकाशित पुस्तिका'यौन उत्पीड़न' से लिया गया– प्रतियों के लिए संपर्क करे
distribution@jagori.org

कब तक जारी रहेगा लैंगिक भेदभाव!

मुद्दा

अंजलि सिन्हा

हाल में सुप्रीम कोर्ट ने एक याचिका की सुनवाई के दौरान सिनेमा उद्योग के मेकअप विभाग में मौजूद जेंडर संबंधी भेदभावपूर्ण व्यवस्था को समाप्त करने का निर्देश दिया। मालूम हो कि वहां लगभग साठ साल से एक अघोषित नियम चला आ रहा है कि महिलाएं मेकअप आर्टिस्ट नहीं बन सकतीं। वे सिर्फ हेयरड्रेसर बन सकती हैं। न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा तथा न्यायमूर्ति वी गोपाल गौड़ा की द्विसदस्यीय पीठ ने याचिकाकर्ता मेकअप आर्टिस्ट चारू खुराना तथा अन्य की याचिका की सुनवाई के संबंध में यह निर्देश दिया। बेंच ने कहा कि किसी संस्थान को इस तरह के व्यवहार की इजाजत कैसे दी जा सकती है? कैसे कोई संस्थान किसी वर्ग या जेंडर के साथ ऐसा भेदभाव कर सकता है जो संवैधानिक नियम के खिलाफ है। कोर्ट ने एडिशनल सॉलिसिटर जनरल एल एन राव को कहा कि वे इस मुद्दे को सरकार को बताएं तथा इस व्यवस्था को जल्द से जल्द समाप्त करने के लिए सरकार तथा सम्बन्धित विभाग को कहें। साथ ही राज्यों से भी डाटा एकत्र कर विस्तृत रिपोर्ट पेश करने को कहा गया है। मामले की अगली सुनवाई अगस्त में होनी है।

याचिकाकर्ता ने अपनी अपील में बताया कि सिनेमा उद्योग की इकाई सिने कास्टयूम मेकअप आर्टिस्ट एंड हेयर ड्रेसर एसोसिएशन ने उन्हें सिर्फ इस आधार पर सदस्यता नहीं दी क्योंकि वह एक महिला आर्टिस्ट हैं, जबकि उन्होंने अमेरिका के एक नामी स्कूल से मेकअप आर्टिस्ट की पढ़ाई पूरी की है। एसोसिएशन की दलील है कि अगर महिलाओं को इस काम में शामिल किया गया तो पुरुष आर्टिस्ट इस रोजगार से वंचित हो जाएंगे। निश्चित ही महिला आर्टिस्टों के वंचित होने से उन्हें समस्या नहीं है।

गौर करने लायक बात है कि यह व्यवस्था इतने समय से चल रही है और आम जन को इसकी जानकारी तब मिली जब कोर्ट ने संज्ञान लेते हुए सख्त निर्देश देकर इसे समाप्त करने को कहा। क्या उस आर्टिस्ट एसोसिएशन से जुड़े लोगों को यह नहीं पता था कि यह भेदभावपूर्ण नियम गैरकानूनी है। एसोसिएशन के भीतर से भी कोई आवाज क्यों नहीं उठी कि आज के समय में न्याय और बराबरी हर क्षेत्र का अहम मुद्दा है और इस आधार पर यह भेदभाव निहायत पिछड़ेपन एवं पुरुष प्रधान समाज के हावी होने का संकेतक है? किसी भी सदस्य ने अपनी बैठकों में या लिखित शिकायत में यह मुद्दा क्यों नहीं उठाया यह विचार करने की जरूरत है। बहरहाल, समान अवसर की लड़ाई अभी और किन-किन मोर्चों पर लड़ी जानी है, यह देखा जाना बाकी है। बहरहाल, ग्लैमर की दुनिया में श्रम शक्ति के बीच इस खुले भेदभाव के बहाने एक बार फिर स्त्री पुरुष के बीच औपचारिक नहीं बल्कि वास्तविक समानता के सवाल पर बात की जा सकती है।

कुछ समय पहले प्रकाशित राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण विभाग, जो भारत सरकार की एजेंसी है, की रिपोर्ट ने इसके बारे में खुलासा किया था। मालूम हो कि नमूना सर्वेक्षण विभाग की तरफ से समय-समय पर देश के विभिन्न हिस्सों में सैम्पल सर्वेक्षण किए जाते हैं जिसके आधार पर राष्ट्रीय स्तर पर स्थिति का आकलन किया जाता है। अपने सैम्पल

सर्वेक्षण की 66वीं रिपोर्ट में उसने खुलासा किया कि महिलाएं रोजगार तथा वेतनमान में भेदभाव की शिकार हैं। श्रम बाजार में महिलाओं को शहरी और ग्रामीण- दोनों क्षेत्र में कम दर पर पारिश्रामिक मिलता है। शहरों में पुरुषों की प्रतिदिन की औसत आय 365 रुपए तथा महिलाओं की 232 है। गांवों में पुरुषों की आय 249 रुपए तथा महिलाओं की 156 है। सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय की तरफ से जारी बयान में कहा गया है कि यह नमूना सर्वेक्षण कुछ समय पहले देशभर के 7402 गांवों तथा 5252 शहरों में किया गया। अनियमित कामगारों की मजदूरी में भी अंतर है। पुरुषों को 102 रुपये और महिलाओं को 69 रुपये मिलते हैं। महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (मनरेगा) के तहत मिलने वाले रोजगारों में भी अंतर है।

श्रम बाजार में स्त्री पुरुष के बीच का फर्क असंगठित क्षेत्र में अधिक देखने को मिलता है। आज भी ज्यादातर मामलों में कुशल श्रमिक के रूप में महिलाएं कुल श्रमशक्ति में बराबर का हिस्सेदार नहीं बन पायी हैं। श्रम मंत्रालय की एक रिपोर्ट ने कुछ समय पहले इस पर रोशनी डाली थी। रिपोर्ट के मुताबिक 2001 की जनगणना के अनुसार महिला श्रमिकों की संख्या 12 करोड़ 72 लाख है जो उनकी कुल संख्या 49 करोड़ 60 लाख का चौथा (25.60 प्रतिशत) हिस्सा ही हुआ। इनमें भी ज्यादातर ग्रामीण क्षेत्र में हैं और उनका प्रतिशत ऊपर दी हुई कुल महिला श्रमिकों की संख्या का तीन हिस्से से भी ज्यादा (87 प्रतिशत) कृषि सम्बन्धी रोजगार में है। रिपोर्ट के अनुसार शहरी क्षेत्र के रोजगार में तीन हिस्से भी ज्यादा (80 प्रतिशत) महिला श्रमिक घरेलू उद्योग, लघु व्यवसाय सेवा तथा भवन निर्माण में लगी हैं। कहा गया है कि सरकार ने महिला श्रमिकों के काम की गुणवत्ता में सुधार लाने तथा उनकी स्थिति बेहतर बनाने के लिए कई कानून बनाये हैं लेकिन व्यवहार में उनमें अपेक्षित सुधार नहीं हो पाया है।

सवाल उठ सकता है कि श्रमशक्ति के बीच व्याप्त इस असमानता को कैसे दूर किया जाए! बराबर काम के लिए बराबर वेतन औरत का हक है और इसे लागू न करने वाला संस्थान या नियोक्ता इसके लिए अपराधी माना जाना चाहिए। यद्यपि श्रम कानून के अन्तर्गत बराबरी का नियम होता है लेकिन हर जगह जेंडर भेद के लिए रास्ते निकाल लिए जाते हैं। दरअसल ऐसे हालात तैयार करना भी सरकार और नियोक्ता की जिम्मेवारी बनती है जिसमें महिलाएं बराबर का काम कर सकें और उन्हें बराबर की सारी सुविधाएं भी मिलें। ज्ञात हो कि हमारे संविधान का अनुच्छेद 15 यह व्यवस्था देता है कि भारत का हर एक नागरिक लैंगिक तथा जातीय भेदभाव से मुक्त जीवन का अधिकारी है। अर्थात ऐसे भेदभाव करना कानूनी अपराध माना जाएगा। लेकिन यहां की महिलाएं नागरिक होते हुए भी आसानी से और धड़ल्ले से आर्थिक शोषण का शिकार होती आयी हैं।

यह समझने की आवश्यकता है कि आर्थिक क्षेत्र में तथा सार्वजनिक दायरे में बराबर की भागीदारी तथा हैसियत घर के अन्दर की गैरबराबरी को भी खत्म कर सकती है। महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा तथा अपराध सिर्फ समाज सुधार और सख्त कानून से काबू में नहीं आ सकता है। ऐसे वातावरण में जहां हर स्तर पर तथा हर क्षेत्र में औरत बराबर से उपस्थित हो, वहां धीरे-धीरे मानसिकता में बदलाव आयेगा।

यद्यपि पिछले डेढ़-दो दशक में स्थितियां तेजी से बदली हैं और महिला आबादी की सार्वजनिक दायरे में उपस्थिति बढ़ी है फिर भी मौजूद अंतर देखते हुए इसका बने रहना पूरे समाज के लिए अच्छा नहीं माना जा सकता।

राष्ट्रीय सहारा 01.08.2014

महिलाओं की सेहत का सवाल कामकाजी

मुद्दा

मुकुल श्रीवास्तव

विकास जब अपने संक्रमण काल में होता है तब सामाजिक समस्याएं ज्यादा गंभीर होती हैं। कुछ ऐसी परिस्थितियों से फिलहाल भारतीय समाज भी गुजर रहा है। आंकड़े बताते हैं कि समाज के हर क्षेत्र में महिलाएं तेजी से आगे बढ़ रही हैं। उच्च शिक्षा में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी उनके लिए रोजगार के अवसरों को बढ़ा रही है। महिलाएं कार्यक्षेत्र में पुरुषों के वर्चस्व को तेजी से तोड़ रही हैं। आमतौर पर ऐसी तस्वीर किसी भी समाज के लिए आदर्श मानी जाएंगी जहां स्त्रियां तरक्की कर रही हों, पर भारतीय परिस्थितियों में यह स्थिति महिलाओं के लिए स्वास्थ्य संबंधी कई परेशानियां पैदा कर रही है।

वैश्वीकरण की बयार और शिक्षा के प्रति बढ़ती जागरूकता ने पूरे देश को प्रभावित किया है। धीरे-धीरे ही सही अब इस धारणा को बल मिल रहा है कि कामकाजी महिला घर और भविष्य के लिए बेहतर होगी। पर हमारा पितृसत्तामक सामाजिक ढांचा उनसे घर-परिवार के साथ साथ रोजगार संभालने की भी अपेक्षा करता है। जिसका नतीजा महिलाओं में बढ़ती स्वास्थ्य समस्याओं के रूप में सामने आ रहा है। स्वास्थ्य संगठन मेट्रोपोलिस हेल्थकेयर लिमिटेड द्वारा देश के चार महानगरों दिल्ली, कोलकाता, बंगलुरु और मुंबई में रहने वाली महिलाओं के बीच किए गए सर्वेक्षण से पता चलता है कि युवा महिलाओं में डायबिटीज और थायरॉयड जैसी बीमारियां तेजी से बढ़ रही हैं। इसकी वजह से महिलाओं को थकान, कमजोरी, मांसपेशियों में खिंचाव और मासिक चक्र में गड़बड़ी जैसी समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। रिपोर्ट के अनुसार चालीस से साठ साल के बीच की उम्र वाली महिलाओं में इन दोनों बीमारियों के होने की आशंका बढ़ी है। महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि अब कम उम्र की महिलाएं भी इन बीमारियों की चपेट में आ रही हैं। हाल के वर्षों में गांवों से शहरों की ओर पलायन बढ़ा है जिसका नतीजा बढ़ते एकल परिवारों के रूप में हमारे सामने है। संयुक्त परिवार की तुलना में एकल परिवार में कामकाजी महिलाओं पर काम का बोझ ज्यादा बढ़ा है जिससे महिलाओं को अपने कार्यक्षेत्र और घर, दोनों को संभालने के लिए पुरुषों से ज्यादा मेहनत करनी पड़ रही है। इससे तनाव बढ़ता है और शरीर की प्रतिरोधक क्षमता कम होती है जिससे अन्य बीमरियों के होने की आशंका बढ़ जाती है। अब वह दौर बीत चुका है जब माना जाता था कि महिलाएं सिर्फ घर का कामकाज देखेंगी। अब महिलाएं पुरुषों के समान ही जीवन की हर चुनौती का सामना कर रही हैं, उनके काम का दायरा बढ़ा है; पर परिवार से जो समर्थन उन्हें मिलना चाहिए, वह नहीं मिल रहा है। भारत के संबंध में यह समस्या महत्वपूर्ण है जहां अभी तक महिलाए घर की चारदीवारी में कैद रही हैं, अब उनको स्वीकार्यता तो मिल रही है पर स्थिति बहुत अच्छी नहीं है।

पुरुषों की सहभागिता घर के रोज के कामों में न के बराबर है। विश्व आर्थिक मंच की एक रिपोर्ट के अनुसार लैंगिक समानता सूचकांक में भारत का स्थान 135 देशों में

113वां है। यह सूचकांक दुनिया के देशों की उस क्षमता का आंकलन करता है जिससे यह पता चलता है कि किसी देश ने पुरुषों और महिलाओं को बराबर संसाधन और अवसर देने के लिए कितना प्रयास किया। आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन द्वारा 2011 में किए एक सर्वे में छब्बीस सदस्य देशों और भारत, चीन व दक्षिण अफ्रीका जैसी उभरती अर्थव्यवस्थाओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि भारत, तुर्की और मैक्सिको की महिलाएं पुरुषों के मुकाबले पांच घंटे ज्यादा अवैतनिक श्रम करती हैं। भारत में अवैतनिक श्रम कार्य के संदर्भ में बड़े तौर पर लिंग विभेद है, जहां पुरुष प्रत्येक दिन घरेलू कार्यों के लिए एक घंटे से भी कम समय देते हैं। रिपोर्ट के अनुसार भारतीय पुरुष टेलीविजन देखने, आराम करने, खाने और सोने में ज्यादा वक्त बिताते हैं।

मेट्रोपोलिस हेल्थकेयर रिपोर्ट के अनुसार नौकरी और घर, दोनों संभालने वाली अधिकतर महिलाएं डायबिटीज और थायरॉयड के अलावा मानसिक अवसाद, कमर दर्द, मोटापे और दिल की बीमारियों से पीड़ित हैं। अधिकतर भारतीय घरों में यह उम्मीद की जाती है कि कामकाजी महिलाएं अपने काम से लौटकर घर के सामान्य काम भी निपटाएं। ऐसे में महिलाओं के ऊपर काम का दोहरा दबाव पड़ता है। पुरुष घर आकर काम की थकान मिटाते हैं, वहीं महिलाएं फिर काम में लग जाती हैं। फर्क बस इतना होता है कि बाहर के काम का आर्थिक भुगतान होता है जबकि घर के कामकाज को परंपराओं, मर्यादाओं के तहत उनके जीवन का अंग मान लिया जाता है। उल्लेखनीय है कि इस समस्या के और भी कुछ अल्पज्ञात पहलू हैं। घर-परिवार, मर्यादा, नैतिकता और संस्कार के नाम पर महिलाओं को अक्सर घरेलू श्रम के ऐसे चक्र में फंसा दिया जाता है कि वे अपने अस्तित्व से ही कट जाती हैं।

बड़े शहरों में जागरूक माता-पिता अपनी लड़कियों की पढ़ाई पर ज्यादा ध्यान दे रहे हैं। ऐसे में तमाम लड़कियां शादी से पहले ही कामकाजी हो जाती हैं और घर के दायित्वों में सक्रिय रूप से योगदान नहीं देती। पर शादी के बाद स्थिति एकदम से बदल जाती है। पुरुष अगर घर के सामान्य कामों को छोड़कर अपनी पढ़ाई या करियर पर ध्यान दें तो यह आदर्श स्थिति मानी जाएगी क्योंकि समाज उनसे यही आशा करता है। पर महिलाओं के मामले में समाज की सोच दूसरी है। ऐसे में अगर कोई लड़की पढ़-लिख कर कुछ बन जाती है तो भी उससे यह उम्मीद की जाती है कि वह घर के कामों में ध्यान देगी और तब समस्याएं शुरू होती हैं।

दरअसल, समाज का ढांचा तो बदल रहा है पर मानसिकता नहीं और यही समस्या की जड़ है। मानसिकता में बदलाव समाज के ढांचे में बदलाव की अपेक्षा काफी धीमा होता है। इसकी कीमत कामकाजी महिलाओं को चुकानी पड़ रही है। ऐसे में यह बेहद जरूरी है कि समाज और परिवार अपनी मानसिकता में बदलाव लाएं और पुरुष घर के कामकाज को लैंगिक नजरिये से देखना बंद करें। छोटे बच्चे जब घर के सामान्य कामकाज को अपने पिताओं को करते देखेंगे तो उनके अंदर घरेलू कामकाज के प्रति लैंगिक विभेद नहीं पैदा होगा। जरूरी है कि छोटे बच्चों का समाजीकरण घरेलू काम में लैंगिक बंटवारे के हिसाब से न हो यानी खाना माताजी ही पकाएंगी और सब्जी पिताजी ही लाएंगे! यदि ऐसा होगा तो आज के बच्चे कल के एक बेहतर नागरिक और अभिभावक बनेंगे। बीमारियों का इलाज तो दवाओं से हो सकता है, पर स्वस्थ मानसिकता का निर्माण जागरूकता और सकारात्मक सोच से ही होगा।

राष्ट्रीय सहारा 12.09.2014

खाकी वर्दी पर लग रहे दाग कौन धोएगा

उत्तर प्रदेश में महिला उत्पीड़न की इतनी घटनाएं घट रही हैं कि अगर कोई छोटी-सी आशा की किरण उजागर होती है, तो उसे देखने और दिखाने की कोशिश की जानी चाहिए। न्याय की पथरीली राह में ये छोटी उपलब्धियां मील के पत्थर का काम करती हैं।

कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के मामले अनगिनत हैं, पर विरोध की हिम्मत कम ही महिलाएं जुटा पाती हैं। उत्पीड़न करने वाले हर तरह से शक्तिशाली होते हैं। वे या तो अधिकारी होते हैं या पैसे अथवा संपर्क से प्रभावशाली। या अपराध जगत से उनका संबंध होता है। नेताओं, पुलिस अधिकारियों, बड़े प्रशासनिक अधिकारियों से लड़ना तो असंभव ही मालूम पड़ता है। पुलिस विभाग के बारे में अक्सर खबरें छपती हैं कि उच्चाधिकारी से लेकर सिपाही तक महिला अधिकारियों, कर्मचारियों, सिपाहियों इत्यादि का शोषण करते हैं। पर इन मामलों को सार्वजनिक करने की हिम्मत जुटा पाना पीड़ित महिलाओं के बस के बाहर होता है।

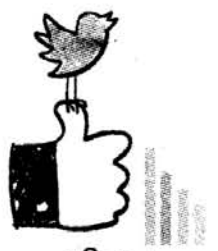

परिदृश्य

मेरठ की अरुणा ने पहल तो कर दी है, पर दोषी पुलिसकर्मी के खिलाफ कार्रवाई भी ज़रूरी है।

सुभाषिनी सहगल अली

ऐसे में शायद पहली बार पुलिस विभाग की किसी महिला ने किसी अधिकारी के खिलाफ मामला उठाने की हिम्मत की है। मेरठ में उत्तर प्रदेश पुलिस का ट्रेनिंग स्कूल है, पीटीएस। वहां सब इंस्पेक्टर अरुणा राय हॉस्टल की वार्डन और साइबर क्राइम की शिक्षिका का काम करती हैं। पीटीएस के निरीक्षक डीआईजी डी पी श्रीवास्तव थे। विगत 14 अप्रैल को उन्होंने अपने दफ्तर में अरुणा को बुलाकर उससे आपत्तिजनक व्यवहार किया। अरुणा ने उसी वक्त उन्हें टोका। इसके बाद वह अरुणा से फोन पर बात करने की कोशिश करने लगे। इन बातों की शिकायत अरुणा ने अपने वरिष्ठ अधिकारी से की। इसके बाद, उससे समझौता करने का प्रयास डीआईजी की तरफ से होने लगा। उसे धमकियां भी मिलने लगीं। उसके पानी का कनेक्शन काट दिया गया और उसकी छुट्टी की अर्जी भी ठुकरा दी गई। अपने पति का समर्थन मिलने के बाद अरुणा ने डीआईजी के खिलाफ कार्यस्थल पर होने वाले यौन उत्पीड़न के खिलाफ कानून के अंतर्गत लिखित शिकायत कर दी।

डीआईजी की गिरफ्तारी हुई और उनका निलंबन भी हो गया। कुछ माह बाद उन्हें जमानत पर छोड़ दिया गया, पर विभागीय जांच चलती रही। दो अगस्त को जांच कमेटी ने, जिसकी अध्यक्ष एडीजी सुतपा सान्याल थीं, डीआईजी को दोषी पाया। अब उनके खिलाफ सरकार को कार्रवाई करनी है। लेकिन आश्चर्य यह कि जांच समिति की रिपोर्ट आने के बाद डीआईजी का निलंबन वापस ले लिया गया!

यह तय है कि अरुणा के साहसी कदम के बाद पुलिस विभाग में तमाम पीड़ित महिलाएं अपने साथ हो रहे शोषण के खिलाफ आवाज उठाने लगेंगी। यह प्रसंग इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि अभी तक यही समझा गया था कि अपराधी पुलिसवालों तक कानून के हाथ नहीं पहुंच सकते। जिन पर समाज की सुरक्षा सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है, अगर वही अपने मातहत महिलाओं का उत्पीड़न करेंगे, तो समाज की शोषित महिलाओं को कौन बचाएगा? इसलिए इस मामले में दोषी पाए गए पुलिस अधिकारी के खिलाफ मामूली अपराधियों से ज्यादा सख्ती किए जाने की जरूरत है। नौकरी के बाहर तो उन्हें किया ही जाना चाहिए, कठोर दंड भी देना चाहिए।

(लेखिका माकपा की पूर्व सांसद हैं)

अमर उजाला 05.09.2014

मजबूरी में ही क्यों करें काम!

मुद्दा

मनीषा सिंह

शिक्षा का स्तर सुधरने और अपनी रोटी खुद कमाने की इच्छा ने बेशक बीते कुछ दशकों में महिलाओं को घर से बाहर पांव रखने की हिम्मत दी। इसका नतीजा यह निकला कि कम से कम शहरों में तो महिलाएं नौकरी और कामकाज के सिलसिले में बाहर आने-जाने लगीं। धीरे-धीरे यह बदलाव छोटे शहरों और कस्बों में हुआ, लेकिन वहां यह मिथक काम कर रहा था कि ऐसी महिलाएं किसी मजबूरी में ही घर से बाहर आ रही हैं। गरीबी, पति की अकाल मृत्यु या घर में कोई कमाऊ पुरुष सदस्य न होने की स्थिति में ही महिलाओं ने घर चलाने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली और नौकरी या बिजनेस का बीड़ा उठाया। इस मजबूरी का अभिप्राय यह था कि जैसे ही आर्थिक स्थितियां थोड़ी बेहतर होती हैं, महिलाएं बाहरी कामकाज छोड़ देती हैं। महिलाएं खुद को अचानक कामकाजी दायरों से अलग कर लें, तो किसी भी बढ़ते हुए देश और समाज के लिए यह एक नकारात्मक स्थिति है और अफसोस कि पिछले दस सालों में ऐसे हालात अपने देश में भी पैदा हुए हैं जब विभिन्न कारणों से भारी संख्या में कामकाजी महिलाएं परिदृश्य से ओझल हुई हैं। इस बारे में चेतावनी देते हुए पिछले साल में रजिस्ट्रार जनरल और सेंसस कमिश्नर ऑफ इंडिया ने पढ़ी-लिखी और कामकाजी महिलाओं की संख्या में गिरावट के कुछ आकलन और संकेत जारी किए थे। वे सभी आज सच साबित हो रहे हैं। साफ हुआ है कि बीते दस सालों में देश में लगभग चार करोड़ कामकाजी महिलाओं ने काम छोड़ दिया है। महिलाओं ने ऐसा क्यों किया, इसके कई कारण हैं पर उनके इस निर्णय के कुछ चौकाने वाले नतीजे भी निकले हैं। जैसे सबसे उल्लेखनीय यह है कि महिलाओं के कामकाजी परिदृश्य से गायब होने का फायदा पुरुष कर्मचारियों को हुआ है और इससे देश में गरीबी में कमी आई है।

पिछले कुछ वर्षों में गांव और शहरों में मजदूरी की बढ़ती दरों के अध्ययन में पाया गया कि पुरुषों के मुकाबले कम वेतन पर काम करने वाली महिलाओं ने नौकरी छोड़ दी है। महिलाओं की ओर से जब कोई प्रतिस्पर्धा नहीं रही तो इसका पूरा लाभ पुरुष श्रमिकों ने उठाया। उन्होंने अपनी मजदूरी की दरें बढ़ा दीं। पुरुष श्रमिकों की बढ़ी हुई मजदूरी दरों का उद्घाटन हाल में भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर रघुराम राजन के एक बयान से हुआ है जो उन्होंने गरीबी की रेखा का आकलन करने वाली तेंडुलकर समिति और दूसरे सर्वेक्षणों का हवाला देते हुए दिया था। उन्होंने कहा कि 2007 के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी की दरें सौ से दो सौ फीसद बढ़ी हैं। उत्तर भारत के गरीब राज्यों- उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान में भी बीते सात-आठ सालों में मजदूरी की दरें 50 से 100 प्रतिशत तक बढ़ी हैं। दरें बढ़ने के कारणों की खोजबीन से पता चला कि इसकी एक बड़ी वजह मनरेगा जैसी रोजगार योजनाएं हैं जिसमें निश्चित राशि अवश्य मिल जाती है। मनरेगा का यह विरोधाभासी पहलू है क्योंकि इसके जैसी सरकारी योजनाओं का असल उद्देश्य महिला श्रमिकों को पुरुषों के बराबर मजदूरी दिलाना था, लेकिन इस मामले में उनका उल्टा ही असर हुआ।

शहरों और गांवों के कामकाजी माहौल में महिलाओं

की बढ़ती अनुपस्थिति की वजहें अलग-अलग हैं। गांव-कस्बों में मजदूर वर्ग की महिलाओं ने जिन दो सकारात्मक वजहों से काम करना छोड़ा है, उनमें पहली तो यही है कि मनरेगा की बदौलत उनके घर के पुरुष सदस्यों की कमाई में बढ़ोत्तरी हुई जिससे महिलाओं को घर छोड़कर काम पर जाने की मजबूरी नहीं रही। पर इससे ज्यादा उल्लेखनीय यह है कि गांव-कस्बों में 15 से 25 आयु वर्ग की महिलाएं अब काम पर जाने की बजाय शिक्षा हासिल करने और अच्छा करियर बनाने पर ज्यादा जोर देने लगी हैं। इसका कारण भी परिवार के पुरुष सदस्यों की मजदूरी या कमाई बढ़ना ही है, पर महिलाओं के नजरिये से यह सार्थक बात है। एक अन्य कारण निश्चित तौर पर महिलाओं के खिलाफ हिंसा और यौन शोषण जैसी घटनाओं का बढ़ना है जिसने चाहते हुए भी महिलाओं को कामकाजी क्षेत्रों से वापस खींचा है। मौजूदा हालात में हमारे शहरी इलाकों में पुरुषों के मुकाबले महिला श्रमिकों का प्रतिशत केवल 13 है। यह औसत भारत को दुनिया में सबसे कम औसत वाले देश में शामिल कराता है। पर देश में सिर्फ 30 फीसद आबादी ही शहरों में रहती है, इसलिए इस औसत का मतलब यह है कि महिलाएं असल में गांव-कस्बों के कामकाजी माहौल से गायब हो रही हैं।

आज के समय में जैसे-जैसे गरीबों के हाथ में पैसे आ रहे हैं, वे अपनी जीवनशैली में परिवर्तन करते हुए मध्यवर्गीय परिवारों में शामिल होने की कोशिश करते दिख रहे हैं लेकिन साथ ही उन पर ऐसी सामाजिक प्रतिष्ठाओं का दबाव भी बन रहा है जिसमें महिलाओं का बाहर निकलकर काम करना अच्छा नहीं माना जाता। ये बदलाव भविष्य में भारतीय समाज और कामकाजी माहौल पर बड़ा असर डाल सकते हैं, खास तौर से शहरी समाज के संदर्भ में, क्योंकि देश तेजी से शहरीकरण की तरफ बढ़ रहा है। ऐसे में शहरों में कामकाजी महिलाओं की संख्या में तेज गिरावट के नतीजे गंभीर हो सकते हैं। शहरों में इसकी शुरुआत हो चुकी है, वहां अब महिलाएं नौकरीपेशा होने की बजाय घर बैठने को ज्यादा अहमियत देने लगी हैं। कहने को तो शहरों में पढ़ी-लिखी और प्रशिक्षित महिलाओं की संख्या काफी ज्यादा होती है। वहां उनके लिए अवसरों की भी कमी नहीं है, लेकिन जनगणना के पिछले आंकड़े बताते हैं कि जिन बड़े शहरों में सबसे ज्यादा महिलाएं काम कर रही हैं, वहां का उनका प्रतिशत भी खास आकर्षक नहीं है। जैसे राजधानी दिल्ली में कामकाजी महिलाएं दूसरे बड़े भारतीय शहरों के मुकाबले बहुत कम हैं। इस मामले में बेंगलुरू सबसे आगे बताया जाता है जहां फिलहाल 24.3 फीसद महिलाएं कामकाजी हैं। 19.4 प्रतिशत के साथ चेन्नई दूसरे नंबर पर है। फिर 18.8 फीसद के साथ मुंबई का नंबर आता है। कोलकाता में 17.9 फीसद महिलाएं कामकाजी हैं जबकि दिल्ली में 53.1 फीसद पुरुषों के मुकाबले कामकाजी महिलाएं केवल 10.6 फीसद हैं। अफसोस की बात है कि दिल्ली में पिछले कुछ समय से जो स्त्री विरोधी माहौल बना है, उसने उनकी काम करने की इच्छा खत्म कर दी है। अनेक पढ़ी-लिखी महिलाएं बड़ी कंपनियों में काम के मौके मिलने पर भी काम पर नहीं जाना चाहती हैं।

रोजगार क्षेत्र में महिलाओं की अनुपस्थिति के इस नजारे पर हमारे समाजशास्त्रियों और योजनाकारों की नजर अवश्य जानी चाहिए। क्योंकि कुछ वाणिज्यिक संस्थाओं जैसे क्रिसिल का आकलन है कि अगले पांच-छह वर्षों में देश के एक करोड़ 20 लाख लोग नौकरी छोड़कर जीवन-यापन के लिए खेती की तरफ लौट सकते हैं। इस स्थिति से देश की कृषि व्यवस्था को कोई लाभ होगा- यह अंदाजा नहीं लगाया जा सकता क्योंकि ऐसे लाखों-करोड़ों लोग पारिवारिक बंटवारे के चलते पहले से आकार में छोटे हो गए खेतों पर और दबाव बनाएंगे। इसलिए महिलाओं को रोजगार से जोड़े रखने वाले प्रयास जरूरी हैं।

राष्ट्रीय सहारा 20.09.2014

जागोरी द्वारा प्रकाशित 'हैल्प लाइन पुस्तिका' के लिए संपर्क करें, distribution@jagori.org

देर से मिला न्याय

> लंबित मुकदमों के अंबार को देखते हुए उत्तर प्रदेश सरकार ने हाल ही में हर जिले में फास्ट ट्रैक कोर्ट गठित करने की बात कही है। लेकिन फास्ट ट्रैक कोर्ट का हमारा अब तक का अनुभव बहुत उत्साहित करने वाला नहीं है। ऐसे में, समाधान क्या है?

पत्रलेखा चटर्जी

विकास संबंधी मुद्दों पर लिखने वाली वरिष्ठ स्तंभकार

इस बात से हर कोई सहमत है कि कानून के शासन और न्याय तक सबकी समान पहुंच बनाए रखने के लिए बहुत जरूरी है कि अदालतों में चल रहे मामलों का समय से निपटारा हो। यह व्यक्ति का मौलिक अधिकार भी है। हालांकि इससे भी सब भलीभांति वाकिफ हैं कि भारत की वर्तमान न्यायिक व्यवस्था ऐसा कर पाने में असमर्थ साबित हो रही है, और इसकी वजह है, अदालतों में भारी तादाद में लंबित पड़े मामले। गौरतलब है कि मई, 2014 तक सर्वोच्च न्यायालय में लंबित पड़े मुकदमों (सिविल और आपराधिक) की संख्या 63,843 थी, जबकि 2011 में ऐसे मामलों की तादाद 58,519 थी। इस मामले में देश के उच्च न्यायालयों की हालत भी अच्छी नहीं कही जा सकती। उच्च न्यायालयों में लंबित मुकदमों की संख्या 2011 के 43 लाख से बढ़कर दिसंबर, 2013 में 44 लाख तक पहुंच गई। इनमें से दस लाख मुकदमे तो इलाहाबाद उच्च न्यायालय में ही लंबित हैं। वहीं जिला और अधीनस्थ न्यायालयों में 2013 में ऐसे मामलों की संख्या दो करोड़ थी। उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र के न्यायालयों में लंबित मामलों की तादाद सबसे ज्यादा है। इन हालात में उत्तर प्रदेश सरकार की राज्य के हर जिले में फास्ट ट्रैक कोर्ट (त्वरित अदालतें) के गठन की हालिया घोषणा को किस तरह से देखा जाना चाहिए? सवाल यह भी है कि क्या इस घोषणा से कुछ उम्मीदें लगाई जा सकती हैं?

गौरतलब है कि फास्ट ट्रैक कोर्ट के गठन का विचार कोई अनूठा नहीं है। 2001 से देश में इनका अस्तित्व है। न्यायपालिका पर हर तरह के मुकदमों को निपटाने के बोझ को हल्का करना ही इनके गठन का उद्देश्य था। तब से देश भर में 1,700 से ज्यादा फास्ट ट्रैक कोर्ट स्थापित किए जा चुके हैं। हालांकि इनमें से कइयों का अस्तित्व 2011 में समाप्त हो गया, जब केंद्र सरकार ने इनको पैसा आवंटित करना बंद कर दिया। केंद्र सरकार का कहना था कि ऐसी अदालतों को चलाना काफी महंगा सौदा होता है। फिलहाल चल रही फास्ट ट्रैक अदालतें फंड के लिए राज्य सरकारों का मुंह ताकने को मजबूर हैं। 2012 में दिल्ली में 23 वर्षीय युवती के साथ हुए बर्बर गैंगरेप (निर्भया कांड) और फिर हुई उसकी मौत से लोगों में उपजे रोष के बाद दिल्ली सरकार ने छह फास्ट ट्रैक अदालतों का गठन किया।

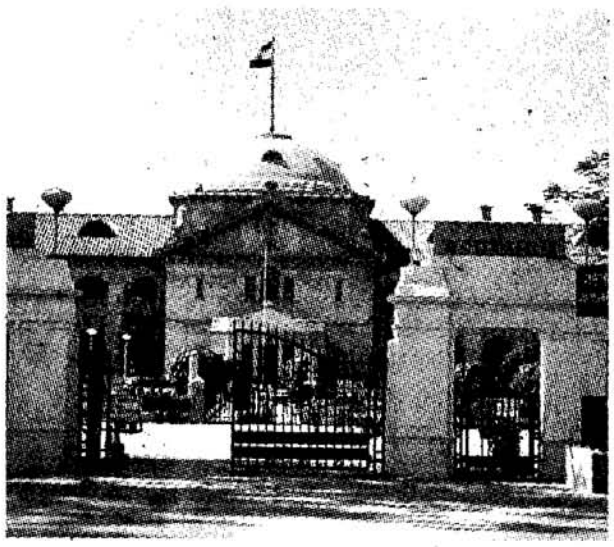

था। मगर सवाल फिर भी कायम है कि क्या फास्ट ट्रैक अदालतें वाकई असरदार हैं। इस मामले में उत्तर प्रदेश का अनुभव अच्छा नहीं रहा है। महिलाओं के खिलाफ हिंसक अपराधों से जुड़े मुकदमों की पैरवी कर रहे तमाम वकील कहते हैं कि मुकदमों को जल्दी निपटाने का दबाव इतना बढ़ जाता है कि न तो ठीक ढंग से सुबूतों का परीक्षण हो पाता है, और न ही हर मुकदमे पर अपेक्षित ध्यान दिया जा पाता है। लखनऊ स्थित एक संगठन एसोसिएशन फॉर एडवोकेसी ऐंड लीगल इनीशिएटिव (एएएलआई) से जुड़ी एक वकील रेनू मिश्रा बताती हैं कि कई बार इन अदालतों को मुकदमों को जल्दी निपटाने के मद्देनजर अव्यवहारिक लक्ष्य दे दिए जाते है, जिसकी वजह से मामले की जटिलताओं पर ध्यान देने का वक्त ही नहीं होता। दूसरे तमाम वकीलों का भी मानना है कि फास्ट ट्रैक अदालतों में चल रहे मुकदमों में ऐसे मामलों की तादाद ज्यादा है, जो अपील के बाद उच्च न्यायालय को सौंपे जाते हैं।

दरअसल चाहे उत्तर प्रदेश हो, या देश में कोई और जगह, मूल समस्या जजों की कमी की है। उदाहरण के तौर पर, उच्च न्यायालयों और जिला न्यायालयों में जितने जज होने चाहिए, उनकी संख्या उससे क्रमशः 32 और 21 प्रतिशत कम हैं। विधि आयोग की हालिया रिपोर्ट की मानें, तो एक ओर जजों की कमी और दूसरी ओर लंबित मुकदमों की लगातार बढ़ती संख्या की वजह से न्यायिक तंत्र न तो नए मुकदमों को तेजी से निपटा पा रहा है और न ही लंबित पड़े मुकदमे को। इससे समस्या दिन पर दिन और गहराने लगती है, जिसकी वजह से समयबद्ध ढंग से न्याय तक पहुंच की सांविधानिक गारंटी और कानून के शासन की अवधारणा भी कमजोर होती है। खासकर निचली अदालतों में कम वेतन और खस्ताहाल बुनियादी ढांचे से न्याय क्षेत्र की बेहतरीन मेधाएं हतोत्साहित होने लगती हैं। विधि आयोग की रिपोर्ट कहती है, 'न्याय में होने वाली देरी को कम करने के लिए जजों की संख्या बढ़ाने के अलावा दूसरे उपाय भी करने होंगे। इसके लिए न्यायिक प्रबंधन से जुड़े बेहतर तौर-तरीकों को लागू करने पर जोर देना होगा।' रिपोर्ट के मुताबिक जब तक जजों और वादियों को यह निश्चित पता नहीं होगा कि उनका मुकदमा कितने समय में निपटेगा, तब तक किसी भी तरह की जिम्मेदारी तय करना खासा मुश्किल साबित होगा। इसके अलावा रिपोर्ट में अलग-अलग तरह के मुकदमों को निपटाने के लिए तार्किक आधार पर ऐच्छिक समय-सीमा तय करने की जरूरत की भी बात की गई है। और इस समय सीमा के आधार पर ही जजों की कार्यक्षमता निर्धारित हो सकेगी। इसके अलावा इससे न्यायपालिका के लिए नीतिगत निर्देश तैयार करना भी आसान हो सकेगा।

अमर उजाला 07.09.2014

आधी आबादी के लिए निर्मम हमारे शहर

मुद्दा

अंजलि सिन्हा

कुछ समय पहले एक कानूनविद ने एक राष्ट्रीय अखबार में लिखे अपने लेख के जरिए यह समझाने की कोशिश की थी कि हमारी रहने की जगहें, हमारे शहर या नगर किस कदर जेंडरीकृत हैं अर्थात स्त्री-पुरुष भेद पर टिके हैं। छोटी-छोटी बातों का उल्लेख करके उन्होंने समझाया था कि किस तरह पितृसत्तात्मक छाप लिए शहर स्त्री की गतिशीलता को नियंत्रित करते दिखते हैं। उदाहरण के लिए स्ट्रीट लाइट का न होना किसी के लिए सामान्य नागरिक सुविधाओं की कमी का एक हिस्सा हो सकता है, लेकिन वह आधी आबादी को अंधेरा होते ही घरों में कैद होने के लिए मजबूर कर सकता है।

हाल में प्रकाशित एक खबर के अनुसार दिल्ली सरकार के मुख्य सचिव की अध्यक्षता में बने एक कोर ग्रुप की रिपोर्ट- जिसका गठन सोलह दिसम्बर 2012 के निर्भया कान्ड के बाद हुआ था और जिसने शहर के पूरे वातावरण को सुरक्षित बनाने के लिए सेफ्टी आडिट किया था और जनता से सुझाव भी मांगे थे, के निष्कर्ष देख कर यही लगता है कि शहर की बुनियादी सुविधाओं में कोई गुणात्मक फर्क नहीं पड़ा है। बीते जनवरी को इस कोर ग्रुप ने आउटर रिंग रोड तथा शहर के अन्य संवेदनशील क्षेत्रों का जायजा लिया था कि सुविधाएं कैसी हैं! एवज में न उन्हें स्ट्रीट लाइट ठीक दिखी, न फुटपाथ और न ही शौचालय दुरुस्त मिले।

इस कोर ग्रुप का मकसद यही था कि पुलिस की कार्रवाई तथा महिलाओं पर अत्याचार के मामलों में अत्यधिक सतर्कता बरतने के अलावा यह जाना जाए कि शहर के पूरे वातावरण को सुरक्षित बनाने के लिए क्या-क्या करने की जरूरत है। इस समूह ने दिल्ली डेवलपमेंट आथारिटी की युनाइटेड ट्रैफिक एंड ट्रान्स्पोर्टेशन इन्फ्रास्ट्रक्चर सेन्टर, दिल्ली पुलिस, स्वास्थ्य विभाग और परिवार कल्याण विभाग आदि से महिला सुरक्षा बेहतर करने के लिए ठोस सुझाव भी मांगे थे। डीडीए के उपरोक्त सेंटर ने कुछ साधारण सुझाव दिए थे जिसमें सड़क पर पर्याप्त रोशनी, पर्याप्त शौचालय, सड़कों पर फेरीवालों को बढ़ावा देना ताकि वह 'सड़कों पर निगरानी' कर सकें, सुरक्षित बस स्टैंड और पैदल चलने के लिए ठीक फुटपाथ। उसने यह भी सुझाव दिया था कि सड़कों पर 24 घंटे गतिविधियां चलती रहने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसके अलावा दिल्ली के कुछ इलाकों को उसके द्वारा किया गया सुरक्षा आडिट प्रस्तुत करके इन 'संवेदनशील' इलाकों के लिए 'माइक्रोप्लानिंग' की भी बात कही थी।

प्रश्न है कि जबकि हजारों की तादाद में लोगों ने सड़कों पर उतर कर महिलाओं की सुरक्षा बेहतर करने पर जोर दिया हो, तब भी सरकारी महकमे पुराने ढर्रे पर ही क्यों चल रहे हैं। न्यूनतम सुझावों पर भी अमल क्यों नहीं हो रहा है? क्या शीत निद्रा से जगने के लिए शासन-प्रशासन के फिर निर्भया जैसे कांड का इन्तजार है! इस संदर्भ में जब

जिम्मेदारी चिह्नित करने की बात आएगी तो आम तौर पर एक महकमा दूसरे महकमे पर दोषारोपण करता मिलेगा। मगर बुनियादी बात यही दिखती है कि समाज में निर्णायक पदों पर में बैठे लोगों में इस बात का एहसास नहीं बन पाया है कि शहर पर पड़ी पितृसत्ता की छाप आधी आबादी की गतिशीलता को काबू में रखने का जरिया बनती है और इसलिए आम तौर पर आलम यही होता है कि अंधेरा होते ही महिलाओं का सड़क पर नजर आना मजबूरी की तरह देखा जाता है। जब केन्द्र में एक जिम्मेदार मंत्री निर्भया कांड की वजह से 'देश के टूरिज्म क्षेत्र के नुकसान' के प्रति ज्यादा चिंतित दिखते हों, तो फिर मंत्रियों के मातहत नौकरशाहों से क्या उम्मीद की जा सकती है?

सार्वजनिक दायरे में महिलाओं को सुरक्षा देने में जब भी सरकारी नाकामी पर चर्चा होती है, तो उनके लिए विशेष बस, ट्रेन या विशेष जगह की व्यवस्था की जाए। बेशक ऐसे सुझाव महिलाओं को सुकून देते हैं लेकिन ऐसे इंतजाम सीमित मार्गों पर ही संभव हो सकते हैं। जहां सार्वजनिक दायरे में औरतें अधिक संख्या में उपस्थित नहीं हैं वहां भी ऐसी सुविधाएं दी जानी चाहिए ताकि सार्वजनिक दायरे में उनके प्रवेश के लिए प्रोत्साहन मिले, सुरक्षा की गारंटी का एहसास हो। हिंसा से उनके बचाव के लिए दो तरीके हैं या तो महिलाओं के लिए अलग सुरक्षित स्थान बनाया जाए या सभी स्थानों को सुरक्षित किया जाए। औरत पर जब-जब हिंसा की मार पड़ती है, तब-तब उसके सुरक्षा के इंतजामों का लेखा-जोखा होता है। जैसे पिछले साल लड़कियों के स्कूलों में पुरुष शिक्षकों द्वारा यौन उत्पीड़न की घटना सामने आते ही उन्हें स्कूलों से हटाने का निर्देश आया। जब शौचालयों का उनके उत्पीड़न के लिये इस्तेमाल किया गया तो महिला शौचालयों पर ताला जड़ दिया गया। कार्यस्थलों की असुरक्षा के कारण उन्हें रात की पाली में काम पर नहीं रखा जाता था। उनके होस्टलों के गेट पर पहरेदार तैनात किए जाते रहे हैं। अधिसंख्य महिला छात्रावासों में अंधेरा होने के पहले ही अपने कमरों में पहुंच जाना होता है।

कुछ साल पहले तक ट्रेन में महिला कूप होता था लेकिन जब वह भी असुरक्षित हो गया तो खतम किया गया। उसमें चलती ट्रेन में असामाजिक तत्व जबरन घुस जाते थे और ट्रेन के यात्री कुछ नहीं कर पाते थे। बाद में महिला बोगी तथा फिर स्पेशल महिला ट्रेन भी चलायी गयी। फौज जैसी नौकरियां तो महिलाओं के लिए सुरक्षित ही नहीं ही मानी गयीं, इसलिए उन्हें लिया भी गया तो सीमित समय के लिए (हाल में ही आदेश जारी हुआ है कि सेना में उन्हें स्थायी कमीशन दिया जाए।) महिलाओं को उन्हीं क्षेत्रों में तैनात किया गया जिन्हें 'महिला सुलभ' समझा जाता था। अर्थात जहां-जहां समस्या आयी, वह क्षेत्र प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से महिलाओं के लिए वर्जित घोषित हो गया। सार्वजनिक स्थलों पर घूमने में कानूनन किसी पर कोई पाबंदी नहीं हैं, लेकिन अघोषित फरमान जरूर होता है कि महिलाएं रात में सड़क पर न निकलें। बेशक इसके लिए कानून नहीं है लेकिन समाज का संकेत यही होता है कि उल्लंघन का खमियाजा भुगतना पड़ सकता है। शहर के इन्फ्रास्ट्रक्चर में यथास्थिति का जो सिलसिला नीति-निर्माताओं व अमलकर्ताओं के गठबन्धन से चल रहा है, उसका साफ संदेश है कि स्त्रियां चहारदीवारी से बाहर न निकलें।

राष्ट्रीय सहारा 30.08.2014

स्त्री-पुरुष समता का दुर्लभ उदाहरण

परत दर परत

राजकिशोर

विवाह के किसी भी कानून में यह नहीं बताया जाता कि पति और पत्नी के अधिकार और कर्तव्य क्या होंगे। मुस्लिम विवाह में जरूर एक निकाहनामा तैयार किया जाता है जिस पर वर, कन्या और विवाह कराने वाले धर्माधिकारी के हस्ताक्षर होते हैं, लेकिन निकाहनामे में यह नहीं लिखा जाता कि दैनंदिन जीवन के कार्य-व्यवहार किस तरह संपन्न होंगे और दोनों के बीच समानता रहेगी या पुरुष का काम अधिकार जताना और स्त्री का काम आज्ञा पालन करना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि दांपत्य संबंध को कानून के दायरे से बाहर रखा गया है। यह एक शर्तमुक्त संबंध होता है, ताकि पति-पत्नी आपस में जो समीकरण बनाना चाहें, निर्बंध होकर बना सकें।

लेकिन एक कानून और होता है, जो अकसर सरकारी कानूनों पर भी भारी पड़ता है। यह कानून है समाज का, परंपरा का, मान्यताओं का, बाहुबल का और पैसे का। किसी भी देश में पति-पत्नी संबंध इन्हीं तत्वों के द्वारा निर्धारित होता है। इसलिए एक ही समाज में इस संबंध के कई रूप हो जाते हैं। पति उदार है तो पत्नी के अधिकारों का दमन नहीं होगा, पुरुष सामंती वृत्ति का है तो पत्नी को उसके अनुशासन में रहना होगा। पत्नियां भी सब एक जैसी नहीं होतीं। कुछ अपने पति को अपना मालिक समझती हैं, तो कुछ उसके कंधे से कंधा मिलाकर चलना चाहती हैं। स्त्री-पुरुष संबंध का स्वरूप तय करने में दहेज की भूमिका भी कम नहीं है। जो लड़की अच्छा दहेज लेकर आई है, उसका मान होगा और जिस लड़की के परिवारवालों ने कम दहेज दिया है, उसका अपमान होगा। स्थिति जैसी भी हो, वैवाहिक जीवन में पुरुष का पलड़ा भारी ही रहता है, तब भी जब पत्नी भी कमाती हो या पति से भी ज्यादा कमाती हो। ऐसा लगता है कि स्त्री ने मनोवैज्ञानिक रूप से अधीनता की भूमिका को स्वीकार कर लिया है। अधीनता न भी हो, तो स्त्री अपने अनुभवों से जानती है कि पुरुष को नाराज करना दांपत्य शांति के लिए खतरा आमंत्रित करना है।

> स्त्री में पुरुष की अपेक्षा ज्यादा धैर्य, ज्यादा सहिष्णुता, ज्यादा भावनाशीलता, ज्यादा सेवा का भाव होता है, इसलिए वह पुरुष से अधिक श्रेष्ठ है। लेकिन स्त्री की यही विशेषताएं उसे कमजोर भी करती हैं। इतिहास का नियम है कि असभ्य या बर्बर जातियों ने सभ्य जातियों पर विजय पाई है। अंग्रेज सभ्य होते, तो वे भारत पर आक्रमण नहीं करते। यह आक्रामकता ही स्त्री-पुरुष संबंध को विकृत करती है। इससे बचने के लिए और संबंधों में समानता लाने के लिए संघर्ष तो स्त्री को ही करना पड़ेगा; लेकिन पुरुष वर्ग चाहे तो वह भी इस संघर्ष में सहयोग कर सकता है

कह सकते हैं कि चूंकि स्त्री में पुरुष की अपेक्षा ज्यादा धैर्य, ज्यादा सहिष्णुता, ज्यादा भावनाशीलता, ज्यादा सेवा का भाव होता है, इसलिए वह पुरुष से अधिक श्रेष्ठ है। लेकिन स्त्री की यही विशेषताएं उसे कमजोर भी करती हैं। इतिहास का नियम है कि असभ्य या बर्बर जातियों ने सभ्य जातियों पर विजय पाई है। अंग्रेज सभ्य होते, तो वे भारत पर आक्रमण नहीं करते। यह आक्रामकता ही स्त्री-पुरुष संबंध को विकृत करती है। इससे बचने के लिए और संबंधों में समानता लाने के लिए संघर्ष तो स्त्री को ही करना पड़ेगा, लेकिन पुरुष वर्ग चाहे तो वह भी इस संघर्ष में सहयोग कर सकता है। मुझे लगता है कि समानता ही सबसे बड़ा उपहार है जो कोई पुरुष किसी स्त्री को दे सकता है।

प्रसिद्ध स्वतंत्रतावादी दार्शनिक जॉन स्टुअर्ट मिल ने यही उपहार अपनी पत्नी हैरियट टेलर को दिया था। दोनों के प्रेम की अद्भुत कहानी है। दोनों के बीच जब प्रेम पनपा, तब हैरिएट टेलर विवाहित थीं। जब तक पति मर नहीं गया तब तक दोनों ने विवाह नहीं किया। विवाह के लिए उन्हें इक्कीस साल तक इंतजार करना पड़ा। उन दिनों विवाह का कानून संपूर्णतः स्त्री विरोधी था। स्त्री को पति का अंग माना जाता था। उसे कोई अधिकार नहीं थे, सारे अधिकार पुरुष के हाथ में थे। यहां तक कि अपनी संपत्ति और स्त्री धन पर भी स्त्री का अधिकार नहीं था।

जॉन स्टुअर्ट स्त्री स्वतंत्रताओं के पक्षधर थे। उन्होंने स्त्रियों की हीन स्थिति पर एक किताब भी लिखी थी। हैरियट भी बौद्धिक स्तर पर जॉन मिल से नीचे नहीं थीं। मिल ने अपने लेखन में हैरिएट के योगदान का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख किया है। कुछ जगहों पर माना जाता है कि लिखा मिल ने है, पर विचार हैरिएट के हैं। प्रेम में दोनों एक-दूसरे के बराबर थे, लेकिन विवाह के बाद दोनों की कानूनी हैसियत में बहुत बड़ा फर्क आ जाता। मिल स्वामी बन जाता, पर हैरियट स्वामिनी नहीं बन पाती। इससे बचने के लिए मिल ने एक कानूनी दस्तावेज बनाया, जो दोनों के आदर्शों से मेल खाता था। इस दस्तावेज में मिल ने लिखा- मैं प्रसन्न हूं कि हैरिएट टेलर ने मुझसे विवाह करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। वे एकमात्र स्त्री हैं जिन्हें मैं जानता हूं। लेकिन विवाह के बाद हमारे संबंध का चरित्र बदल जाएगा। एक पक्ष दूसरे पक्ष के शरीर, संपत्ति और अधिकारों का नियंत्रण करेगा। लेकिन ऐसा कोई कानून नहीं है जिसके तहत मैं, पति के रूप में, अपने विशेषाधिकारों को छोड़ सकूं, ऐसा कोई कानून होता तो मैं जरूर उसका उपयोग करता, इसलिए मैं घोषणा करता हूं कि हमारा विवाह होने के बाद हैरिएट के सभी अधिकार वही रहेंगे जो अभी हैं। यह हमारे विवाह की एक अनिवार्य शर्त होगी।

मैं समझता हूं मिल का यह घोषणापत्र दुनिया के महान प्रेम पत्रों में अन्यतम है। इसके द्वारा मिल अपने समाज और अपने समय का अतिक्रमण कर जाते हैं और भविष्य के किसी समाज में पहुंच जाते हैं जहां स्त्री और पुरुष के अधिकारों में कोई अंतर नहीं है। यह घोषणापत्र छह मार्च 1851 का है। उस दकियानूस समय में भी एक शख्स ऐसा था जो धारा के विरुद्ध तैरने की हिम्मत रखता था। जो चीज कानून में संभव नहीं थी, उसे कानून के बाहर जाकर हासिल किया। मिल का यह उदाहरण बताता है कि एक व्यक्ति की पहल से भी परिवर्तन की धारा फूट सकती है। मिल के जमाने में तो यह नहीं हुआ, पर धीरे-धीरे युगांतरकारी परिवर्तन आया है। आज कानूनी स्थिति में कोई विभेद नहीं है। यह स्थिति लाने में जॉन स्टुअर्ट जैसे पता नहीं कितने भलेमानसों का हाथ है। आज ऐसे हजारों-लाखों भलेमानस चाहिए जो अपनी पत्नी को प्रेम के साथ-साथ स्वतंत्रता और समानता का अधिकार देकर प्रसन्न हों।

राष्ट्रीय सहारा 14.09.2014

विवाह में बलात्कार कहां से आता है

परत दर परत

राजकिशोर

बलात्कार कहीं भी हो सकता है, पर विवाह में नहीं। कानून की यह बहुत पुरानी मान्यता है और अब भी हमारी न्याय व्यवस्था से बहिष्कृत नहीं हुई है। इस जघन्य कानून में इस मान्यता की गूंज सुनाई पड़ती है कि पति राजा है और पत्नी प्रजा। अंग्रेजों ने हमारे यहां एक दिलचस्प मुहावरे को जन्म दिया था- हेड ऑफ द फैमिली यानी परिवार का मुखिया। पहले यह घर का बुजुर्गतम सदस्य हुआ करता था। जब से एकल परिवार शुरू हुआ, पति लोग ही हेड ऑफ द फैमिली बनाए जाने लगे। इससे उनकी कानूनी हैसियत और बढ़ी। पत्नियां समझने लगीं कि परिवार में उनकी अपनी हैसियत क्या है। वैसे, यह कोई नई बात नहीं थी। यह सदियों की कहानी है। पुरुषों के लिए स्त्रियां नींद की गोली की तरह काम करती रही हैं। पुरुषों को तृप्त कर अच्छी नींद का इंतजाम करना स्त्रियों की जिम्मेदारी है, लेकिन स्त्रियों को कौन सुलाएगा? इस प्रश्न को गैरजरूरी और वाहियात मान कर छोड़ दिया गया। साधन भला साध्य हो सकता है?

भारत में कई दशकों से विवाह और सेक्स के संबंध को मानवीय बनाने का संघर्ष जारी है। समय-समय पर कानून ने भी इसमें मदद की है। इस दिशा में उड़ीसा हाईकोर्ट के एक पुराने फैसले को लैंडमार्क कहा जा सकता है। पत्नी अभिनेत्री थी और पति के व्यवहार से दुखी होकर अलग रहने लगी थी। कानून में एक धारा है- वैवाहिक अधिकारों को बहाल करना। जाहिर है, इन अधिकारों में सेक्स का अधिकार सबसे ऊपर है। सो पति ने अदालत की शरण ली और प्रार्थना की कि मेरे वैवाहिक अधिकारों को बहाल किया जाए। काफी बहस-मुबाहसे के बाद हाईकोर्ट ने यह उदार फैसला दिया कि किसी भी स्त्री को बाध्य नहीं किया जा सकता कि वह अपने पति के साथ रहे। फरियादी की मंशा पूरी नहीं हो सकी। लेकिन कानून की यह धारा आज भी अपनी जगह पर कायम है।

उड़ीसा हाईकोर्ट के फैसले में जज ने यह लिखा था या नहीं, पर उसमें यह भाव जरूर अंतर्निहित था कि अपनी पत्नी से वैवाहिक संबंध कायम करना हो तो उसके पास जाइए, उसे मनाइए और वह मान जाती है तो उसके साथ घर लौटिए। अपने वैवाहिक अधिकारों का उपयोग करना है, तो पहले अपने वैवाहिक कर्तव्यों का पालन कीजिए। विवाह कानूनी संबंध के अलावा एक भावनात्मक रिश्ता भी है। भावनात्मक संबंध को छिन्न-भिन्न कर देने के बाद आप पत्नी को कानून की छड़ी से पीटना चाहेंगे, तो वह आपको ठेंगा दिखा सकती है।

> कानून में व्यभिचार की सजा है। एक विवाह के रहते दूसरा विवाह करने पर सजा है। विवाह के भीतर स्त्री के साथ मार-पीट की जाती है तो इसके लिए भी सजा है। दहेज मांगने की सजा है। लेकिन स्त्री के साथ जबरन सेक्स के लिए कोई सजा नहीं है। पति पत्नी को पीट नहीं सकता- घरेलू हिंसा कानून के तहत उसे पकड़ लिया जाएगा। परंतु अपनी पत्नी को पकड़ कर, दबोच कर, उसके हाथ-पांव बांध कर, उसे बेहोश कर, धमका कर, डरा कर उसके साथ सेक्स करना पति की अधिकार सीमा के भीतर आता है। है न यह आश्चर्य की बात

लेकिन अदालतों का भी अपना मूड होता है। कुछ महीने पहले एक अभियुक्त को इसलिए रिहा कर दिया गया कि जिस स्त्री के साथ उच्चतम न्यायालय ने उसे वैध करार दिया था।

दुनिया के कई देशों ने 'विवाह में बलात्कार नहीं हो सकता', इस धारणा को त्याग दिया है। लेकिन इस बलात्कार के लिए कोई सजा मुकर्रर नहीं की है। हां, इसके आधार पर स्त्री तलाक जरूर मांग सकती है। लेकिन हमारी संसद इसके लिए तैयार दिखाई नहीं देती। क्या इसके पीछे कोई ठोस कारण है? हम सभी को पता है कि जिद से ज्यादा कोई ठोस कारण नहीं होता। यह सरकार का हठ है कि हम विवाह के मामले में परंपरागत हदों से बाहर न निकलें। शायद सरकार सोचती है कि इस तरह वह विवाह संस्था को बचा रही है। सच यह है कि वह इसकी क्रूरताओं को बनाए रख कर विवाह संस्था को नष्ट कर रही है।

कानून में व्यभिचार की सजा है। एक विवाह के रहते दूसरा विवाह करने पर सजा है। विवाह के भीतर स्त्री के साथ मार-पीट की जाती है तो इसके लिए भी सजा है। दहेज मांगने की सजा है। लेकिन स्त्री के साथ जबरन सेक्स के लिए कोई सजा नहीं है। पति पत्नी को पीट नहीं सकता- घरेलू हिंसा कानून के तहत उसे पकड़ लिया जाएगा। परंतु अपनी पत्नी को पकड़ कर, दबोच कर, उसके हाथ-पांव बांध कर, उसे बेहोश कर, धमका कर, डरा कर उसके साथ सेक्स करना पति की अधिकार सीमा के भीतर आता है। है न यह आश्चर्य की बात।

चलिए मान लिया कि सेक्स के लिए पति अपनी पत्नी के पास नहीं जाएगा, तो कहां जाएगा। विवाह में स्त्री की इच्छा के विरुद्ध सेक्स की वैधता को भी मान लिया। लेकिन जबरदस्ती करने के लिए पति पत्नी को पीटता है, उसके हाथ-पांव बांध देता है, उसे बेहोश कर देता है, धमकाता है, डराता है, कमरे में बंद कर देता है, तो ये सभी क्रियाएं भारतीय दंड संहिता की विभिन्न धाराओं के तहत क्या दंडनीय नहीं हैं? किसी और स्त्री के साथ ऐसा करके देखिए, पुलिस आप को दबोच लेगी। यौन संदर्भ के बिना अपनी पत्नी के साथ यह सब करके देखिए, आप को थाने में बुला लिया जाएगा। तो क्या सेक्स का लेप कर देने पर यह सारी जबरदस्ती वैध हो जाती है?

प्रेम के बहुत-से नियम विवाह पर भी लागू होते हैं। प्रेमी-प्रेमिका में भी यौन संबंध होता है। यह उनके संबंध की मिठास को बढ़ाता है। वैवाहिक जीवन में भी मिठास बढ़ सकती है। पर बल प्रयोग से मिठास नहीं, तिक्तता बढ़ेगी। संबंध में जहर घुल जाएगा। क्या पुरुषों का वैवाहिक आदर्श यही है?

राष्ट्रीय सहारा 21.09.2014

बाल विवाह की सियाही कब धुलेगी!

मुद्दा

डॉ मोनिका शर्मा

सच कड़वा सच है कि हमारे देश के सामाजिक-पारिवारिक तानेबाने में बेटियां जिम्मदारी भर ही मानी जाती रही हैं। ऐसी जिम्मेदारी जिससे हर परिवार जितना जल्दी हो सके मुक्त होना चाहता है। हालांकि शहरी परिवारों की सोच में बेटियों की शादी और उन्हें आत्मनिर्भर बनाने को लेकर कई बदलाव आए हैं पर दूर-दराज के गांवों में आज भी बाल विवाह की कुरीति का दंश कायम है। बाल विवाह की रोकथाम के लिए जनमानस में वातावरण बनाने की अनिगनत सरकारी कवायदों के बावजूद यह कुप्रथा आज भी समाज में व्याप्त है। यूनिसेफ की एक रिपोर्ट में तो यहां तक कहा गया है कि भारत से बाल-विवाह की कुरीति के उन्मूलन में अभी 50 साल का समय लगेगा।

संयुक्त राष्ट्र की बाल एजेंसी यूनिसेफ की एक ताजा रिपोर्ट के मुताबिक बाल विवाह के मामले में भारत दुनिया में दूसरे स्थान पर है। 'इम्प्रूविंग चिल्ड्रेन्स लाइव्स ट्रांसफॉर्मिंग द फ्यूचर-25 ईयर ऑफ चाइल्ड राइट्स इन साउथ एशिया' में यह सच सामने आया है। इस फेहरिस्त में बांग्लादेश पहले स्थान पर है। गौरतलब है कि कुछ ही समय पहले संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि दुनिया की हर तीसरी बालिका वधू भारत में है। यूनिसेफ की रिपोर्ट 'एंडिंग चाइल्ड मैरिज-प्रोग्रेस एंड प्रोस्पेक्ट' के मुताबिक भारत बाल विवाह के मामले में दुनिया के शीर्ष दस देशों में शामिल है। ऐसे में सवाल है कि बाल विवाह की रोकथाम के लिए बने कड़े कानूनों और जन जागरूकता लाने वाली सरकारी योजनाओं और नीतियों के क्रियान्वन में ऐसी कौन सी कमियां हैं जो यह कुरीति आज भी कायम है? ऐसे में इस कुप्रथा के उन्मूलन के लिए अन्य कई कारणों पर विचार करना जरूरी है।

संयुक्त राष्ट्र की इस बाल सहायता संस्था (यूनिसेफ) के अनुसार दुनिया भर में आज 70 करोड़ ऐसी महिलाएं हैं जिनकी शादी नाबालिग आयु में हुई है। इनमें से बाल विवाह के लगभग 50 फीसद मामले केवल दक्षिण एशिया से हैं। एक बड़ी संख्या में बाल विवाह का दंश झेलने वाली लड़कियां भारत में बसती हैं। इस रिपोर्ट के अनुसार दुनिया भर में एक तिहाई बालिका वधू भारत में रहती हैं। बचपन में ब्याह दिये जाने और शिक्षित होने का भी सीधा सीधा संबंध है। यूनिसेफ के आंकड़े इस बात को और पुख्ता करते हैं। इस रिपोर्ट के मुताबिक दसवीं तक पढ़ी लड़कियों की तुलना में कम शिक्षित लड़कियों की शादी होने की संभावना 5.5 फीसद अधिक होती है। हमारे देश में भी साक्षरता का प्रतिशत जहां अधिक है, वहां बाल विवाह कम होते हैं। भारत में केरल में चाइल्ड मैरिजेज का प्रतिशत सबसे कम है जबकि राजस्थान पहले नंबर पर है।

कच्ची उम्र में विवाह के बंधन में बांध दिए जाने वाले बच्चों का जीवन कितना तकलीफों भरा हो सकता है यह

समझना किसी के लिए भी मुश्किल नहीं। यहां तक कि उन अभिभावकों के लिए भी नहीं जो खुद इन मासूमों को नव-दंपत्ति के रूप में आशीर्वाद देते हैं। आमतौर पर यह मान लिया जाता है कि जो अभिभावक अपने बच्चों का बाल विवाह करवा देते हैं उनमें जागरूकता की कमी है या वे अशिक्षित होते हैं। बाल विवाह जैसी कुरीति के विषय में अधिकतर यही तक बात होती है कि गांवों के लोगों में जनचेतना की कमी है, लोग अशिक्षित हैं और यह नहीं समझते कि बाल विवाह यानी बचपन में बनने वाले इस रिश्ते का उनके मासूम बच्चों के जीवन पर क्या प्रभाव होगा? बाल विवाह जैसी कुरीति के चलते बेटियों की सेहत व शिक्षा दोनों प्रभावित होते है। उनकी पढ़ाई छूट जाती है। घरेलू हिंसा और कम उम्र में मां बनने के चलते वे कई मानसिक और शारीरिक रोगों से घिर जाती हैं। परिणाम सबके सामने हैं। फिर भी यह कुप्रथा अपनी जड़े जमाए है। आखिर क्यों?

दरअसल आज के दौर में हकीकत इसके विपरीत है। दूर दराज के गांवों में माता-पिता दोनों जागरूक हैं और यह भी भली भांति जानते-समझते हैं कि बाल बिवाह जैसी कुरीति उनके बच्चों का बचपन और जीवन दोनों ही छीन लेती है। खुद सात साल की उम्र में ब्याही गई किसी मां से ज्यादा इस बात को कौन समझ सकता है कि कम उम्र में गृहस्थी संभालने की तकलीफें क्या होती है? फिर भी वह खुश होती है कि उसकी बेटी का घर-द्वार जल्द से जल्द बस जाएगा और वह बेटी के ब्याह की जिम्मेदारी से मुक्त हो जाएगी। सवाल है कि सब कुछ जानते समझते हुए भी देश के कई हिस्सों में बाल विवाह जैसी कुरीति आज भी क्यों जारी है? आज भी बच्चों के अभिभावक ऐसा निर्णय क्यों लेते हैं जिसके दुखद परिणामों से वे वाकिफ है?

वास्तव में बच्चों से उनका बचपन छीन लेने वाली इस कुरीति के पीछे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक कारणों की लंबी फेहरिस्त है। किसी के पास देने के लिए दहेज नहीं तो किसी की सामाजिक हैसियत इतनी कम है कि बेटी को उसे दबंगों की बुरी नजर से बचाने के लिए कम उम्र में ब्याह देना ही एकमात्र विकल्प लगता है। कोई बेटे का ब्याह कम उम्र में इसलिए करना चाहता है क्योंकि भय होता है कि कुछ साल बाद शायद उसे दुल्हन न मिल पाए।

कहने का आशय यही है कि जागरूकता की कमी एक कारण हो सकता है पर इससे बड़े कई दूसरे कारण हैं जिसके चलते कानून आते-जाते रहते हैं पर यह कुप्रथा जस की तस अपनी जड़ें जमाये हुए है। हकीकत यह है कि आज बाल विवाह के साथ चाइल्ड ट्रैफिकिंग और बेमेल शादियों जैसी कुरीतियां और जुड़ गई हैं, नतीजतन यह कुप्रथा और भी ज्यादा विकृत हो चली है।

बाल विवाह के लिए अशिक्षा और जागरूकता की कमी से ज्यादा बड़े कारण दहेज, गरीबी और सामाजिक असुरक्षा है। इसीलिए समग्र रूप से बाल विवाह जैसी कुरीति मिटाने के लिए इन सारे कारणों पर विचार करना जरूरी है। सामाजिक मान्यता और स्वीकार्यता के बिना कोई कानून काम नहीं कर सकता। जब तक सामाजिक सुरक्षा और सम्मान की परिस्थितियां समाज के हर व्यक्ति के हिस्से नहीं आयेंगी ऐसी कुरीतियां फलती-फूलती रहेंगी।

यूनिसेफ की रिपोर्ट

- बाल विवाह की शीर्ष दर बांग्लादेश में है, दक्षिण एशिया में आधी लड़कियों की 18 साल से पहले शादी हो जाती है
- भारत में 2000-2012 के बीच पांच साल से कम उम्र के सबसे ज्यादा मौजूद बच्चों का पंजीकरण नहीं हुआ
- भारत में टीकाकरण का दायरा बढ़ाने और लिंग आधारित चयन का रोकने की जरूरत बताई गई
- भारत में 2005-2013 के दौरान 43 प्रतिशत लड़कियों की शादी 18 साल की उम्र तक हुई
- भारत के पश्चिम और उत्तर पश्चिमी हिस्से में लिंग-भेदभाव ज्यादा व्याप्त है

राष्ट्रीय सहारा 13.09.2014

राष्ट्रीय सहारा 21.09.2014

खुले में शौच से खतरे में पड़ रही आबरू!

शौच के लिए घर से बाहर जाने वालीं 30 फीसद महिलाओं के साथ यौनाचार से आयोग चिंतित

नई दिल्ली (भाषा)। देश में 62 करोड़ भारतीयों के खुले में शौच जाने तथा बाहर शौचालय के लिए जाते समय 30 प्रतिशत महिलाओं के यौन हमले का शिकार बनने की खबरों से चिंतित राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने सोमवार को नोटिस जारी किए तथा केन्द्र, राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों से देश में शौचालयों के अभाव पर रिपोर्ट तलब की है।

आयोग ने सोमवार को कहा कि उसने केंद्रीय पेयजल एवं स्वच्छता मंत्रालय के सचिव तथा सभी राज्यों एवं केंद्र शासित प्रदेशों के मुख्य सचिवों से इस मुद्दे पर चार हफ्ते के भीतर रिपोर्ट तलब की है। बयान में कहा गया 'एक सर्वेक्षण में भी यह बात प्रमाणित हुई है कि शौचालय के लिए बाहर जाने वाली 30 प्रतिशत महिलाएं यौन शोषण का शिकार बनती हैं। आयोग ने यह महसूस किया है कि यदि प्रेस में छपी खबरों के तथ्य सही हैं तो यह मानवाधिकार हनन का गंभीर मुद्दा है।' आयोग द्वारा मीडिया में आई एक खबर पर स्वतः संज्ञान लेते हुए नोटिस जारी किया गया। इस खबर में 2011 की जनगणा का हवाला देते हुए कहा गया कि देश की आधी से अधिक आबादी को शौचालय के लिए बाहर जाना होता है। झारखंड एवं ओड़िशा में आबादी का 77 प्रतिशत, बिहार में 76 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में 64 प्रतिशत के पास घरों में शौचालय नहीं हैं। पूर्ववर्ती यूपीए ने कथित रूप से अक्टूबर, 2013 में इस बात पर सहमति जताई थी कि घरों में शौचालय नहीं होना देश में बलात्कार की घटनाओं में वृद्धि का प्रमुख कारण है।

- मीडिया रिपोर्ट के अनुसार देश में 62 करोड़ भारतीय खुले में शौच करते हैं और ऐसे में महिलाओं पर होता है यौन हमला
- 2011 की जनगणना के अनुसार देश की आधी आबादी को शौचालय के लिए देश के बाहर जाना होता है

राष्ट्रीय सहारा 01.07.2014

बलात्कार और सामाजिक संरचना

विनोद कुमार

बदायूं की घटना ने देश-विदेश में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की महानता की पोल खोल दी। बलात्कार की इससे बर्बर घटनाएं इसके पूर्व में होती रही हैं। अति पिछड़े वर्ग की दो नाबालिग लड़कियों के साथ बलात्कार और फिर उनके शवों को पेड़ पर लटकाना बर्बरता का एक रिकार्ड है। इसकी देश-विदेश में भर्त्सना हुई, लेकिन कुल मिलाकर राजनीति ज्यादा और शर्म कम दिखाई दे रही है। और समाधान के रूप में जो बातें कही जा रही हैं, यानी ग्रामीण इलाकों में शौचालय न होने और पुलिस बल की कमी बाबत, उससे हमारे समाज का बौद्धिक दिवालियापन ही प्रकट हो रहा है।

कहा जा रहा है कि चूंकि महिलाओं को शौच के लिए घर से निकलना पड़ता है, उनके साथ बलात्कार हो जाता है। यानी मामला कुछ उस प्रकार का है कि बाघ जंगल के बीच नदी-घाट पर घात लगा कर छिपा रहता है और जैसे ही कोई मासूम जानवर पानी पीने के लिए वहां पहुंचता है, बाघ उसे धर दबोचता है। हालांकि जानवर वह नहीं करते जो इंसान करते हैं। पहले बलात्कार करते हैं और फिर अपनी यौनहिंसा के शिकार को मार कर पेड़ पर लटका देते हैं। अब अगर इससे बचना है तो बड़ी संख्या में शौचालय बनाने पड़ेंगे!

कहा जा सकता है कि शौचालय की सुविधा बलात्कार रोकने की दिशा में एक कदम है। अगर हमारी अर्थव्यवस्था इस काबिल हो गई है कि फ्लशयुक्त शौचालय में हम मल-मूत्र त्याग कर सकें तो वे जरूर बनने चाहिए। लेकिन हमारे यहां तो अभी पीने के पानी का ही टोटा है। वैसी अवस्था में कम से कम हमें इस आग्रह से बचना चाहिए कि शौचालय बिना बलात्कार नहीं रुक सकता। वैसे भी ये दो अलग-अलग समस्याएं हैं। उन्हें आपस में जोड़ना ठीक नहीं। और हमारी चिंता तो यहां इस बात को लेकर है कि क्या हजारों वर्षों की सभ्यता की दौड़ के बाद हम इसी जंगल-राज में पहुंचे हैं?

फिर तो स्त्रियों का जीना ही मुश्किल है। क्योंकि उन्हें सिर्फ शौच के लिए घर से नहीं निकलना पड़ता। उन्हें खेत-खलिहानों में काम करना पड़ता है, शहर से ग्रामीण इलाकों के स्कूलों में पढ़ाने के लिए आना पड़ता है, दफ्तरों में काम करना पड़ता है। उस दौरान उन्हें उन सड़कों से गुजरना पड़ता है, जहां संभव है थोड़ा सन्नाटा हो, थोड़ी कम रोशनी हो। उन्हें ऐसी बस में चढ़ना पड़ सकता है जिसमें पुरुष ही पुरुष हों। तो क्या दरिंदे उन्हें नोच खाएंगे? ऐसा ही समाज हमने बनाया है?

और पुलिस? हमारे देश में महिलाओं की आबादी करीबन पैंसठ करोड़ है। और बलात्कार की कोई उम्र सीमा नहीं। पांच वर्ष की बच्ची से लेकर साठ वर्ष की प्रौढ़ा तक बलात्कार की शिकार हो सकती हैं। इतनी बड़ी आबादी की सुरक्षा के लिए क्या हर जगह पुलिस बल की तैनाती हो सकती है? और इस बात की क्या गारंटी कि पुलिसकर्मी ही बलात्कार पर अमादा न हो जाएं! पुलिसकर्मी भी पहले पुरुष पुंगव होता है। हां, बड़ी संख्या में महिला पुलिसकर्मियों की बहाली की जा सकती है। लेकिन महिला पुलिसकर्मी की सुरक्षा की गारंटी कौन करेगा?

दरअसल, शौचालय और पुलिसकर्मी की संख्या बढ़ाने से बलात्कार के बढ़ने और घटने का कोई रिश्ता नहीं। हम आपको एक ऐसे समाज की जानकारी दे सकते हैं, जहां शौचालय सिरे से गायब हैं और पुलिस थाने भी इतिहास के लंबे दौर में नहीं हुआ करते थे। हां, मैं आदिवासी समाज की ही बात कर रहा हूं। वहां शौचालय अब भी नहीं हैं, और पुलिस थानों की स्थापना पहली बार अंगरेजों ने उनके दमन के लिए ही की थी। कोल विद्रोह के बाद 1838 में सबसे पहले जमींदारी थानों की स्थापना हुई, जिनका खर्च अंगरेज बहादुर रैयतों से ही वसूलते थे। यह स्थिति 1863 तक चली, जब आधुनिक किस्म के थानों की स्थापना की गई। लेकिन आदिवासी समाज अपनी बेटियों की सुरक्षा के लिए कल भी पुलिस पर निर्भर नहीं थे और आज भी नहीं हैं।

आप कहेंगे कि बलात्कार की घटनाएं तो वहां भी हुआ करती हैं। हां, बहिरागतों द्वारा आदिवासी महिलाओं का शारीरिक शोषण होता है। पलायन कर अन्य राज्यों में मजूरी करने गईं लड़कियों, ईंट-भट्ठों में काम करने वाली आदिवासी लड़कियों का दैहिक शोषण होता है। अपसंस्कृति का शिकार हो रहे आदिवासी समाज के कुछ गांव-घरों से भी अब बलात्कार की खबरें निकल कर आने लगी हैं। बावजूद इसके, हम दावे के साथ कह सकते हैं कि औरत-मर्द की बराबरी के लिहाज से यह एक आदर्श समाज है। झारखंड के ग्रामीण इलाकों में बहुधा एक दृश्य आम है। तड़के बालू से, ईंट और गिट्टी से लदे ट्रक पर रेजा कुली साथ-साथ बैठे हैं। कभी आपने सुना है कि सहकर्मी मजूर ने अपने साथ की मजूरन के साथ बलात्कार किया हो? फिर बलात्कार कहां होता है, उसे चिह्नित किया जाना चाहिए।

बलात्कार उस समाज में होता है, जहां औरत-मर्द में भारी गैर-बराबरी है। जहां औरत भोग की वस्तु और वंश-वृद्धि का साधन मात्र मानी जाती है। पहले समझ यह रही कि बच्चा ईश्वरेच्छा से होता है। जिस दिन पुरुष की समझ में यह बात आई कि समागम से संतानोत्पत्ति का रिश्ता है, उसने औरत पर कब्जा करना शुरू कर दिया। वह गाय-गोरू की तरह संपत्ति हो गई। और जब संपत्ति है तो उसकी रक्षा भी होनी चाहिए। रजस्वला होने के पहले उसका विवाह कर दो। उसके पूर्व वह पिता की संरक्षिता रहेगी, फिर पति की। अगर संरक्षक कमजोर हुआ तो उसकी लूट भी होगी। और आक्रमणकारी वह होगा जो ताकतवर है, और आक्रमण का शिकार वह होगा जो समाज का कमजोर तबका है।

हमें इस आग्रह से बचना चाहिए कि शौचालय बिना बलात्कार नहीं रुक सकता। ये दो अलग-अलग समस्याएं हैं। हमारी चिंता तो इस बात को लेकर है कि क्या हजारों वर्षों की सभ्यता के बाद हम इसी जंगल-राज में पहुंचे हैं? फिर तो स्त्रियों का जीना ही मुश्किल है। क्योंकि उन्हें सिर्फ शौच के लिए घर से नहीं निकलना पड़ता।

एक भदेस मुहावरा इसी बात को रेखांकित करता है- कमजोर की बीवी, सबकी भौजाई। इस मुहावरे का निर्मम यथार्थ यह है कि दबंग हैं उच्च वर्णों के लोग और उनके शिकार बनते हैं दलित और अति पिछड़े तबके के लोग। दबंगों में पिछड़ी जातियों के वे लोग भी हैं जो आर्थिक संपन्नता और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करते ही सामंती, विकृत जीवन मूल्यों को अपना लेते हैं। सबसे पहले अपने घर की औरतों का बाहर निकलना, खेत-खलिहानों में काम करना बंद कर देते हैं और कमजोर तबके की औरतों को खेत-खलिहानों में अपना शिकार बनाते हैं। वे ऐसा अपनी दबंगई के प्रदर्शन के लिए और कमजोर तबके का मनोबल तोड़ने के लिए भी करते हैं। दुश्मन-खेमे पर आक्रमण के वक्त औरतों से बलात्कार एक सामान्य परिघटना है। दलितों ने सामंतों की बात नहीं सुनी तो बस्तियों में आग लगाना और उनकी औरतों के साथ बलात्कार उत्पीड़न का एक आम हथियार है। बलात्कार कर पेड़ पर लटका देना उस क्रूरता की चरम अभिव्यक्ति।

शहरों में ये विकृतियां सभ्यता के आवरण में ढंकी रहती हैं। लेकिन उच्चकुलीन वर्ग की प्रतिष्ठा और उनके घर की औरतों की इज्जत सुरक्षित रहे, इसके लिए बाजाफ्ता जिस्मफरोशी के अड्डे बनाए गए हैं। पूंजीवादी व्यवस्था ने औरत के जिस्म को एक तिजारती वस्तु में बदल दिया है। विज्ञापनों में हम नारी देह के इस दोहन को लगातार देखते हैं। आमोद-प्रमोद के ढेरों उपक्रम किए गए हैं। शराब पीते हुए औरत के नंगे जिस्म को निहारना, सौंदर्य प्रतियोगिताओं के नाम पर कैटवॉक करती लगभग नग्नप्राय नारी जिस्मों का अवलोकन करना, आदि। लेकिन बावजूद इसके, खाते-पीते अघाए समाज की मानसिक विकृतियां तरह-तरह से प्रगट होती रहती हैं।

क्यूप्रिन के 'गाड़ी वालों का कटरा' उपन्यास की भूमिका में लेखक ने उसका कुछ ब्योरा दिया है। भद्र समाज के तहखानों से कैसे भ्रूणों का ढेर बरामद हुआ था, कैसे बच्चियों की योनि में दतवन का टुकड़ा डाल दिए जाने का रिवाज था ताकि दतवन के फूलने के साथ उनकी जनेंद्रियां भी बड़ी हों, आदि। हम सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि निठल्ले समाज और बिना श्रम के पैदा हुए इफरात पैसे ने अजीबोगरीब विकृतियां एक वर्ग-विशेष में पैदा की हैं।

हम इस भ्रम में हैं कि तथाकथित विकास और तकनीकी क्रांति से मनुष्य का मानस भी बदल रहा है। जब तक वर्ण-व्यवस्था पर टिकी हमारे देश की सामाजिक-आर्थिक संरचना नहीं बदलती, तब तक हमारा मानस भी नहीं बदलने वाला। तकनीकी क्रांति के इस दौर में भी वर्ण-व्यवस्था नहीं टूटी है। उत्पादन के साधनों पर अब भी समाज के एक छोटे-से तबके का कब्जा है। शारीरिक श्रम करने वाला तबका अब भी दलितों और आदिवासी का ही है। भूमिहीन श्रमिक, सड़कों पर खटने वाले उजरती मजदूर, कोयला क्षेत्र के पत्थरकट्टा मजदूर, लौह अयस्क खदानों में काम करने वाले श्रमिक आदिवासी, दलित और पिछड़ी जातियों से ही आते हैं। नगर के कूड़े-कचरे को साफ करने का काम दलितों के ही जिम्मे है।

मायावती उत्तर प्रदेश की सत्ता में लंबे समय तक रहीं, लेकिन वे कांशीराम और मदमस्त हाथियों की मूर्तियां ही बनवाती रहीं। दलितों की आर्थिक स्थिति बदले, इस दिशा में कुछ नहीं किया।

बिहार में लालू और नीतीश भूमि-सुधार नहीं कर सके। वन अधिकार कानून को लागू करवाने के लिए आंदोलन हो रहे हैं। उत्तर प्रदेश की अधिकतर दलित बस्तियां अब भी सामंतों की जमीन पर बसी हुई हैं। सरकार ने बासगीत का पर्चा और उसके साथ जमीन पर कब्जा नहीं दिलवाया। कम से कम नगरपालिकाओं में काम करने वाले दलितों को नियमित तो कर दिया होता। कुल मिलाकर, दलितों के आर्थिक-सामाजिक हालात में बहुत कम बदलाव आया है, आजादी के इतने वर्षों बाद भी।

ऐसी स्थिति में जब दलित, अतिपिछड़ा समाज दबंगई का चुनावों में विरोध करता है तो दबंग तबका बौखला उठता है। हम मुलायम और अखिलेश सरकार को कोस रहे हैं। अगर उनकी जनता पर पकड़ ही रहती तो वे हारते? और जिस सरकार के पीछे व्यापक जन समर्थन नहीं, उस सरकार की नौकरशाही बेलगाम हो जाती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उत्तर प्रदेश, जिसने प्रतिदिन दस बलात्कार का रिकार्ड बना रखा है, वहां से मोदी को लोकसभा चुनाव में अस्सी में से सत्तर सीटें मिली हैं।

कट्टर हिंदूवादी ताकतें दलितों को उनकी औकात बताने में लग गई हैं। इसका मुकाबला दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यक मिलकर ही कर सकते थे। लेकिन सत्ता की राजनीति ने दलितों और पिछड़ों को एक-दूसरे के खिलाफ खड़ा कर दिया है। और मोदी इस फिराक में हैं कि ये दोनों शक्तियां आपस में टकरा कर पस्त हो जाएं, ताकि विधानसभा चुनाव में सभी उनकी शरण में पहुंच जाएं। हम तो दलितों पर होने वाले हमलों को, जो नोएडा से लेकर सुदूर पांडिचेरी तक हो रहे हैं, इसी नजरिए से देखते हैं। और इस स्थिति को सुधारने में पुलिस और शौचालय हमारी कुछ भी मदद नहीं कर सकते।

vinodkr.ranchi@gmail.com

जनसत्ता 03.07.2014

किशोर की उम्र और कानून

केपी सिंह

भारत सरकार के महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने किशोर न्याय (देखभाल एवं संरक्षण) अधिनियम, 2000 के स्थान पर नया कानून (किशोर न्याय विधेयक, 2014) लाने की तैयारी कर ली है। प्रस्तावित कानून का प्रारूप इंटरनेट पर लोगों की प्रतिक्रिया जानने के लिए उपलब्ध करा दिया गया है। इस पहल की पृष्ठभूमि में बहुचर्चित निर्भया बलात्कार कांड और हत्या का प्रकरण प्रतीत होता है जिसमें दोषी एक किशोर अपराधी को मात्र तीन वर्ष के लिए सुधार गृह में बंद रखने की सजा मिली थी। अधिसंख्य लोगों का मानना था कि यह सजा अपराध की गंभीरता को देखते हुए अत्यंत कम है। उसी दिन से ही किशोर न्याय अधिनियम, 2000 में परिभाषित किशोरावस्था की अठारह वर्ष की उम्र को घटा कर सोलह वर्ष करने की वकालत शुरू हो गई थी। यह कवायद अब जिद में बदल गई लगती है।

निर्भया बलात्कार और हत्याकांड के बाद उपजे जनाक्रोश को ध्यान में रखते हुए तत्कालीन सरकार ने न्यायमूर्ति वर्मा समिति का गठन किया था। समिति को स्त्री-विरोधी अपराधों से संबंधित कानूनी प्रावधानों को और कठोर बनाने के उपाय सुझाने का जिम्मा दिया गया था। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर भारतीय दंड संहिता के संबंधित प्रावधानों में परिवर्तन किए गए हैं। वर्मा समिति के समक्ष एक प्रश्न यह भी था कि क्या किशोरावस्था की उम्र को अठारह वर्ष से घटा कर सोलह वर्ष किया जाना चाहिए?

बहुत विचार-विमर्श के बाद समिति ने किशोरावस्था की उम्र अठारह वर्ष ही रखने का सुझाव दिया था। इसी विषय को लेकर उच्चतम न्यायालय में सात याचिकाएं भी दायर की गई थीं, जिनमें किशोरावस्था की अधिकतम उम्र सोलह वर्ष करने की गुहार लगाई गई थी। उच्चतम न्यायालय के तीन न्यायाधीशों के एक खंडपीठ ने इन सभी याचिकाओं को एक साथ सुनते हुए किशोरावस्था की उम्र को पुनः परिभाषित करने से इनकार कर दिया था। खंडपीठ ने कहा था कि किशोर न्याय अधिनियम, 2000 के प्रावधान अंतरराष्ट्रीय मानकों को ध्यान में रख कर बनाए गए तर्क-संगत प्रावधान हैं, जिनमें फिलहाल हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं है।

किशोरावस्था की अधिकतम सीमा अठारह वर्ष निर्धारित करते समय बाल-मनोवैज्ञानिकों और व्यवहार-विशेषज्ञों की राय को आधार बनाया गया है। उच्चतम न्यायालय का मत था कि अठारह वर्ष तक की आयु वाले किशोरों को सुधार कर उन्हें समाज की मुख्यधारा में लाने की बहुत गुंजाइश बाकी रहती है।

निर्भया कांड जैसे गंभीर अपराधों को रोकने की पृष्ठभूमि में किशोरावस्था की उम्र कम किए जाने की दलील को खंडपीठ ने यह कह कर नकार दिया था कि इस प्रकार के गंभीर अपराध ऐसे घटित हो रहे कुल संगीन अपराधों की संख्या के मुकाबले बहुत कम हैं और अपवाद-स्वरूप ही सामने आते हैं। अपवादों को आधार बना कर सामान्य कानून में परिवर्तन करना विधिशास्त्र के स्थापित सिद्धांतों के विपरीत होगा।

पर मीडिया में जब भी किसी किशोर द्वारा गंभीर अपराध करने की खबर आती है, जनमत न्यायमूर्ति वर्मा समिति और उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था को मानने से इनकार करता नजर आता है। जनता का तर्क होता है कि संगीन अपराधों में किशोरों की भागीदारी लगातार बढ़ती जा रही है। समय आ गया है कि किशोरावस्था की आयु-सीमा घटा कर उन्हें उचित दंड देने की व्यवस्था की जाए। इसी को वजन देते हुए सरकार अब कानून में फेरबदल करने के बारे में सोच रही है। कानून में कोई भी परिवर्तन करने से पहले यह नहीं भूलना चाहिए कि जनता की राय हमेशा तर्क-संगत और न्याय-सम्मत नहीं होती। जनता की राय को कानून और न्याय की कसौटी पर परखना प्रशासनिक व्यवस्था की जिम्मेदारी होती है।

निर्णय लेते समय उसी जनमत को महत्त्व दिया जाना चाहिए, जो प्रगतिशील और विवेकपूर्ण हो और सामुदायिक विकास और मानवता के सामूहिक मापदंडों पर खरा उतरता हो। वरना भीड़-तंत्र जनमत का अपहरण करके लोकतंत्र को मजबूरी की जंजीरों में जकड़ लेगा और तालिबानी और खाप-मानसिकता न्यायिक व्यवस्था का हिस्सा बनने लगेगी। इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने की जरूरत है।

किशोर अपराधियों को वयस्क अपराधियों से अलग रख कर उनके साथ न्याय करने की अवधारणा का मूल सिद्धांत यह है कि अठारह वर्ष की उम्र तक व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास पूर्ण नहीं होता है। उसे अच्छे-बुरे और गुण-दोष को परखने के लिए आवश्यक ज्ञान नहीं होता है। उसका आपराधिक मंतव्य अपरिपक्व और अपूर्ण होता है। किशोर के कुकृत्य को आपराधिक-मानसिकता का प्रतिफल मान लेना उचित नहीं होगा।

अपराध-विज्ञानियों का मत है कि आधी-अधूरी अपराध-मानसिकता पर आधारित कुकृत्य को अपराध नहीं, व्यवहार-विचलन की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। तर्क में दम प्रतीत होता है। फिर क्या यह न्याय-सम्मत होगा कि अपराध की गंभीरता को आधार बना कर अधूरी आपराधिक मानसिकता को संपूर्ण मानते हुए किशोरावस्था की उम्र घटा दी जाए? अगर ऐसा किया जाता है तो यह किशोर-न्याय की मूल अवधारणा के विरुद्ध होगा।

समाजशास्त्री और अपराध-विज्ञानी चिंतित हैं कि पिछले एक दशक से समाज में यह सोच विकसित हो रहा है कि कठोर सजा देकर ही अपराधों पर अंकुश लगाया जा सकता है। कठोर सजा देकर अपराधों को रोकने की अवधारणा उन्नीसवीं शताब्दी में ही नकार दी गई थी। पर उसके कुछ कीटाणु अब भी जन-मानसिकता में स्थापित हैं जो संगीन अपराध की पृष्ठभूमि में पुनः जीवित हो जाते हैं। दुनिया भर में विधि-शास्त्र का यही तकाजा है कि सुधरने योग्य अपराधियों को सजा के बजाय सुधार प्रक्रिया से गुजार कर उन्हें समाज की मुख्यधारा में शामिल होने के अवसर प्रदान किए जाएं। यह स्थापित सिद्धांत किशोर अपराधियों की बाबत सबसे ज्यादा लागू होता है।

संगीन अपराधों में संलिप्त किशोरों को कठोर सजा देने के पक्षधर इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को समझने में चूक कर बैठते हैं कि सजा की कठोरता नहीं, सजा की सुनिश्चितता अपराधों को रोकने में ज्यादा कारगर साबित हो सकती है। और यह एक हकीकत है कि वर्तमान कानून में किशोरों की सजा लगभग सुनिश्चित होती है।

वर्तमान किशोर न्याय अधिनियम बहुत सोच-समझ कर बनाया गया है। अलबत्ता यह कानून ठीक से लागू नहीं हो पाया है। लिहाजा, इसे बदलने से कुछ नहीं होगा। अपराध-मानसिकता के मूल कारणों को समझते हुए उन्हें दूर करने के उपाय करना, कानून में कठोर सजा के प्रावधान करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, विशेषकर किशोरों के मामलों में।

किशोर न्याय अधिनियम, 2000 के स्थान पर नया कानून लाने से पहले यह समीक्षा करना भी जरूरी हो जाता है कि पुराने कानून में क्या कमी रह गई थी? सच्चाई यह है कि कानून में कमी नहीं थी, बल्कि संबंधित कानून के अधिकतर प्रावधानों को लागू ही नहीं किया जा सका है। इस कानून के बन जाने के तेरह वर्ष बाद भी पुलिस, अभियोजन पक्ष, अधिवक्ताओं, दंडाधिकारियों और अदालतों को कानून के प्रावधानों की पर्याप्त जानकारी नहीं है। किशोरों के विरुद्ध दर्ज हो रहे लगभग तीन चौथाई मुकदमे ऐसे हैं जो दर्ज ही नहीं होने चाहिए थे। किशोरों की दो तिहाई गिरफ्तारियां गैर-कानूनी हैं। किशोरों को सरकारी संरक्षण में रखने के लिए कानून में बताई गई व्यवस्था कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इस कानून के लगभग अस्सी प्रतिशत प्रावधान देश में लागू ही नहीं हो पाए हैं। फिर यह समझ से परे है कि पुराना कानून बदल कर नया कानून लाने की तैयारी क्यों चल रही है?

कानून बनाने वालों को कानून लागू करने वालों से यह जरूर पूछना चाहिए कि अब तक जिला मुख्यालयों पर किशोर अपराधियों को रखने के लिए 'निरीक्षण गृह,' 'विशेष गृह,' 'सुरक्षित स्थान,' 'बाल भवन,' और देखभाल के बाद रखने के लिए कानून-सम्मत मुकम्मल व्यवस्था क्यों उपलब्ध नहीं है। सामुदायिक सेवा, परामर्श केंद्र और किशोरों की सजा से संबंधित अन्य साधन अभी तक क्यों विकसित नहीं हो पाए हैं?

कितने प्रतिशत किशोर बार-बार अपराधों में शामिल हो रहे हैं और क्यों? राज्य का संरक्षण पाने के हकदार कितने बच्चों को सरकारी संरक्षण में रखने के उचित साधन राज्यों के पास हैं? इन प्रश्नों का सही उत्तर मिलने के बाद ही इस प्रश्न का उत्तर मिलेगा कि क्या पुराने कानून को बदलने की जरूरत है? हमें यह समझ लेना चाहिए कि अगर कानून पूर्ण रूप से लागू ही नहीं होंगे तो उन्हें बार-बार बदलने से कोई फायदा नहीं होने वाला है।

किसी भी कानून को बदलने से पहले उसके प्रभाव का आकलन जरूरी होता है। उच्च स्तर पर निगरानी करके यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि कानून का एक-एक प्रावधान सत्यनिष्ठा से क्रियान्वित किया गया है। फिर यह समीक्षा होनी चाहिए कि कानून अपने निर्धारित उद्देश्यों में कितना सफल हो पाया है? इसके बाद ही यह निर्णय होना चाहिए कि उस कानून को बदलने की जरूरत है, या नहीं।

कानून आपराधिक मंशा को सजा देता है, न कि व्यक्ति को। दस से अठारह वर्ष की उम्र के बच्चों की संख्या कुल जनसंख्या का लगभग पंद्रह प्रतिशत है, जबकि इस उम्र के किशोरों की कुल घटित अपराधों में भागीदारी लगभग एक प्रतिशत है।

यह आंकड़ा इस बात का प्रमाण है कि बचपन अबोध होता है। आपराधिकता बच्चों का स्वाभाविक गुण नहीं है। किशोर किसी के बहकावे में आकर, अज्ञानवश या उचित मार्गदर्शन के अभाव में अपराध करते हैं। इसके लिए सामान्य कानूनों के तहत उन्हें दंडित करना उचित नहीं होगा। दंड उन लोगों को मिलना चाहिए जो किशोरों को बहकाने या उनका उचित लालन-पालन करने में कोताही बरतते हैं।

अपराध जगत में प्रवेश कर गए किशोरों को सुधार कर सही रास्ते पर लाना राष्ट्रीय दायित्व है। उन्हें अपराधियों की तरह कारागार में ठूंसने के उपाय ढूंढ़ना अपरिपक्व सोच का ही परिचायक कहा जा सकता है।

वर्तमान किशोर न्याय अधिनियम, 2000 बहुत सोच-समझ कर बनाया गया है। इसमें किशारों और बच्चों के संपूर्ण विकास को ध्यान में रखा गया है। अलबत्ता शायद धन और शासकीय प्राथमिकता के अभाव में यह कानून ठीक से लागू नहीं हो पाया है। इसे बदलने से कुछ नहीं होगा। अपराध-मानसिकता के मूल कारणों को समझते हुए उन्हें दूर करने के उपाय करना, कानून में कठोर सजा के प्रावधान करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, विशेषकर किशोरों के मामलों में। बचपन को नाथने की जिद में बचपन को छोटा करना गलत अवधारणा है। अपराध की गंभीरता को आधार बना कर किशोरों का वर्गीकण करना और भी अधिक गलत सोच का परिचायक है। अगर ऐसा होता है तो अंतरराष्ट्रीय मंचों पर हमारी भरी गई हामियां झूठी पड़ जाएंगी। अनेक किशोर सभ्य समाज का हिस्सा बनने के अवसर से वंचित रह जाएंगे।

kpsingaips@yaaoo.co.in

जनसत्ता 08.07.2014

जेजे एक्ट 2014 के प्रस्तावों के विरोध में एकजुट हुए एनजीओ

नई दिल्ली (ब्यूरो)। जेजे एक्ट 2014 के प्रस्तावों के विरोध में बाल अधिकारों से जुड़े गैर सरकारी संगठनों (एनजीओ) ने एकजुट होकर आवाज उठाई है। उन्होंने सरकार से सवाल किया है कि क्या जघन्य अपराध में शामिल 16 से 18 साल के बीच के बच्चों को जेजे अधिनियम के दायरे से बाहर ले जाकर उन्हें वयस्क के समान कठोर दंड देने से सामाजिक समस्याओं का समाधान हो सकेगा। इस तरह किशोरों के अपराध कम हो सकते हैं या नहीं। उन्होंने बाल अधिकारों की उपेक्षा कर महिलाओं के अधिकारों पर जोर देने की निंदा की है।

क्राई, सेव द चिल्ड्रेन, आंगन ट्रस्ट समेत 58 एनजीओ के गठबंधन से तैयार संगठन प्रो

जघन्य अपराध में शामिल किशोर अपराधियों से वयस्क की तरह बर्ताव करने के विरोध में संगठन

चाइल्ड नेटवर्क ने सरकार से आग्रह किया है कि ऐसे बच्चों को कठोर दंड देने के बजाए पुनर्वास पर जोर दिया जाए।

सरकार को इसके परिणामों पर भी सोचना चाहिए। यह भी देखना होगा कि बीते सालों में किशोरों के अपराधों को रोकने के लिए सरकार ने क्या कदम उठाए हैं। उन्होंने सरकार को चेताया कि जल्दबाजी में उठाया गया कदम महिलाओं और बच्चों के हितों के खिलाफ हो सकता है। जस्टिस वर्मा समिति की सिफारिशों का हवाला देते हुए संगठनों ने कहा कि किशोर अपराधियों को वयस्क की तरह दंड देना महिलाओं की सुरक्षा के लिए व्यवहारिक समाधान नहीं है। अधिकांश महिला संगठनों के नजरिए से यह सही कदम नहीं है।

संगठन ने महिला एवं बाल विकास मंत्रालय से बाल अपराधियों पर वयस्क की तरह दंडात्मक कार्रवाई करने के प्रस्ताव पर पुनर्विचार करने को कहा है। साथ ही मौजूदा किशोर न्याय प्रणाली में से ही कुछ समाधान खोजने का अनुरोध किया है। किशोर अपराधियों को बेहतर ढंग से देखभाल हो और उन पर आगे की कार्रवाई के फैसला लेने के लिए किशोर न्याय बोर्ड के जरिए समय-समय पर इसकी समीक्षा भी हो।

अमर उजाला 17.07.2014

तीन और निर्भया फोरेंसिक साइंस प्रयोगशाला बनेंगी

संजय टुटेजा/एसएनबी

नई दिल्ली। राजधानी में हत्या, दुर्घटनाओं तथा अन्य आपराधिक वारदातों के दौरान फोरेंसिक जांच में तेजी लाने के लिए जल्द ही गैंग रेप का शिकार हुई निर्भया के नाम पर निर्भया फोरेंसिक साइंस प्रयोगशाला बनेगी। फिलहाल इस प्रयोगशाला को चाणक्यपुरी स्थित यशवंत प्लेस में अस्थायी रूप से बनाया जाएगा लेकिन बाद में इसे रोहिणी स्थित स्थायी भवन में स्थानांतरित कर दिया जाएगा।

नई प्रयोगशाला के लिए डीडीए ने दिल्ली सरकार के गृह विभाग को रोहिणी में लगभग 4000 वर्ग मीटर जगह उपलब्ध कराई है जबकि दो अन्य प्रयोगशालाओं के लिए शेख सराय व सरयूपुर में डीडीए ने जगह उपलब्ध कराई हैं। इनमें से रोहिणी तथा सरयूपुर वाली भूमि पर गृह विभाग ने कब्जा भी ले लिया है और रोहिणी में बाउण्ड्री वाल का काम शुरू कर भवन निर्माण के लिए एस्टीमेट बनाने की जिम्मेदारी भी लोक निर्माण विभाग को दे दी गई

- निर्भया फंड से होगा प्रयोगशाला का निर्माण
- केन्द्रीय महिला एवं बाल विकास विभाग देगा फंड
- फिलहाल अगले दो माह में अस्थायी रूप से शुरू हो जाएगी प्रयोगशाला
- बाद में रोहिणी में होगी स्थानांतरित

है। चूंकि रोहिणी तथा बाकी अन्य दो स्थानों पर प्रयोगशाला बनने में अभी दो से तीन वर्ष का समय लगेगा इसलिए सरकार ने फोरेंसिक जांच के काम में तेजी लाने के लिए फिलहाल अस्थायी रूप से एक प्रयोगशाला को तत्काल शुरू करने का फैसला किया है।

गृह विभाग के सूत्रों के अनुसार एक फोरेंसिक साइंस प्रयोगशाला के लिए केन्द्र सरकार के निर्भया फंड से धन उपलब्ध होगा। इसके लिए गृह विभाग ने लगभग 80 करोड़ रुपये का प्रस्ताव केन्द्र सरकार के पास भेजा है, यह प्रस्ताव पास होने पर प्रयोगशाला का नाम भी निर्भया के नाम पर ही रखा जाएगा। सूत्रों के अनुसार केन्द्र के महिला एवं बाल विकास विभाग ने उक्त प्रयोगशाला के लिए न केवल भवन निर्माण हेतु पूरा धन देने की पेशकश की है बल्कि समस्त उपकरण खरीदने तथा एक वर्ष तक सभी कर्मियों का वेतन देने की पेशकश भी की है।

गृह विभाग सूत्रों के अनुसार फिलहाल अस्थायी रूप से प्रयोगशाला को तत्काल शुरू करने के लिए चाणक्यपुरी के यशवंत प्लाजा की सबसे ऊपरी मंजिल को एनडीएमसी से लगभग 25 लाख रुपए प्रतिमाह की दर से किराए पर लिया गया है। इस भवन की साज सज्जा तथा आवश्यक सुविधाएं जुटाने की जिम्मेदारी लोक निर्माण विभाग को दी गई है। अगले दो माह में यह प्रयोगशाला शुरू हो जाएगी और रोहिणी में इमारत बनने के बाद इस प्रयोगशाला को स्थायी रूप से वहां स्थानांतरित कर दिया जाएगा।

राष्ट्रीय सहारा 04.07.2014

हिंसा पीड़िताओं के लिए बनेंगे 660 'निर्भया केंद्र'

नई दिल्ली (भाषा)। दिल्ली के 16 दिसम्बर 2012 सामूहिक बलात्कार कांड की पीड़िता को श्रद्धांजलि देने के लिए देश भर में 660 बलात्कार संकट निवारण केंद्र स्थापित किए जाएंगे और उनका नाम 'निर्भया केंद्र' रखा जाएगा।

महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के अधिकारियों ने बताया कि ये केंद्र देश में सभी 640 जिलों और 20 अतिरिक्त स्थानों पर स्थापित किए जाएंगे तथा परियोजना पर लगभग 477 करोड़ रुपये की लागत आएगी। महिला एवं बाल विकास मंत्रालय पहले ही अवधारणा नोट तैयार कर चुका है जिसे खर्च वित्त समिति की मंजूरी मिल गई है और इसे कानून मंत्रालय, वित्त, आदिवासी मामले, स्वास्थ्य, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता तथा अल्पसंख्यक मामलों के मंत्रालय जैसे विभिन्न भागीदारों के पास उनके सुझाव के लिए भेजा गया है। छेड़छाड़, बलात्कार, यौन उत्पीड़न, घरेलू हिंसा से पीड़ित महिलाओं के लिए निर्भया केंद्र ऐसी जगह होगी जो उन्हें मेडिकल, पुलिस, मानसिक, सामाजिक, परामर्श और विधिक सहायता तथा अस्थायी आश्रय मुहैया कराएगा। हिंसा पीड़िता मेडिकल सहायता के तहत निर्भया केंद्रों से संपर्क कर सकती हैं जहां उन्हें अस्पताल भेजे जाने और प्राथमिकी दर्ज कराने जैसी सहायता मुहैया की जाएगी।

राष्ट्रीय सहारा 04.07.2014

अब एक ही जगह मिलेगी दुष्कर्म पीड़िताओं को हर सहायता

हर जिले में होगा वन स्टॉप सेंटर, मेडिकल, काउंसलिंग व होगी एफआईआर

संजय टुटेजा/एसएनबी

नई दिल्ली। राजधानी में दुष्कर्म की पीड़ित महिलाओं को तत्काल उचित उपचार, काउंसलिंग प्रदान करने तथा हर तरह की राहत प्रदान करने के लिए प्रत्येक जिले में वन स्टॉप सेंटर बनाया जायेगा। इस सेंटर में एक ही स्थान पर पीड़िता की सभी तरह की फोरेंसिंक जांचों व चिकित्सा सुविधा मिलने के साथ साथ पीड़िता की ओर से एफआईआर दर्ज की जायेगी। अपनी तरह के अनूठे इस पहले वन स्टॉप सेंटर की शुरुआत बृहस्पतिवार को मंगोलपुरी के संजय गांधी अस्पताल में होगी।

- 24 घंटे तैनात रहेंगे डाक्टर, काउंसलर व पुलिस कर्मचारी
- पहले सेंटर की एलजी आज करेंगे शुरुआत

राजधानी में दिसम्बर 2012 में चलती बस में हुए निर्भया सामूहिक दुष्कर्म की घटना के बाद निर्भया के उपचार व एफआईआर आदि में हुई देरी के बाद तमाम स्वयंसेवी संगठनों ने दुष्कर्म पीड़िताओं को समय पर उपचार व मदद न मिलने के खिलाफ आवाज उठाई थी जिस पर सरकार ने ऊषा मेहरा आयोग का गठन किया था। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में भी इस बात पर चिंता व्यक्त की थी कि दुष्कर्म पीड़िताओं को जहां थाने में उचित मदद नहीं मिलती वहीं तत्काल चिकित्सीय जांच व उपचार के लिए भी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में दुष्कर्म पीड़िताओं को तत्काल सहायता प्रदान करने के लिए ऐसे केन्द्र बनाने की सिफारिश की थी जहां पीड़िताओं को तत्काल उपचार, राहत व कानूनी मदद मिल सके। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि अस्पतालों में दुष्कर्म पीड़िताओं के उपचार व जांच के लिए अलग कक्ष होना चाहिए। उक्त घटना के बाद हालांकि दिल्ली सरकार ने सभी जिलों में रेप क्राइसिस सेंटर बनाये थे लेकिन इन रेप क्राइसिस सेंटरों पर जहां सामाजिक बदनामी की डर से पीड़ित महिलाएं नहीं पहुंचती थी, वहीं इन सेंटरों पर पर्याप्त राहत व मदद के उपाय भी नहीं थे।

स्वास्थ विभाग ने अब पीड़ित महिलाओं को एक ही केन्द्र पर उपचार, फोरेंसिक जांच, काउंसलिंग , कानूनी मदद व पुलिस मदद उपलब्ध कराने के लिए सभी जिलों में एक एक वन स्टॉप सेंटर बनाने की योजना बनाई है। अपनी तरह के पहले व अनूठे वन स्टॉप एसेंटर ओएससी की शुरुआत बृहस्पतिवार को उपराज्यपाल करेंगे। इस सेंटर में कुल दो कक्ष होंगे जिनमें एक कक्ष सभी चिकित्सीय सुविधाओं से लैस होगा जबकि काउंसलिंग के लिए दूसरा कक्ष ड्राइंगरूम की तरह आरामदायक होगा। यह सेंटर पूरी तरह वातानुकूलित होगा और काउंसलिंग कक्ष में सभी जरूरी सुविधाएं भी उपलब्ध होंगी। पीड़िता की एफआईआर दर्ज करने की सुविधा भी इसी सेंटर में होगी, एक बार सेंटर में आने के बाद पीड़िता को न तो एफआईआर के लिए थाने जाना होगा न फोरेंसिक जांच के लिए किसी लैब में जाना होगा और न चिकित्सीय उपचार के लिए किसी वार्ड में जाना होगा। इसी केन्द्र में पीड़िता के साथ हुई घटना के सबूत जुटाने व कानूनी मदद पहुंचाने की व्यवस्था भी होगी ताकि पीड़िता को न्याय के लिए भटकना न पड़े। इस तरह के केन्द्र अस्पतालों में बनाये जायेंगे और यह केन्द्र 24 घंटे कार्य करेंगे। इन केन्द्रों पर अस्पताल के डाक्टर व पेरामेडिकल स्टाफ के अलावा पुलिसकर्मी भी सहायता के लिए उपलब्ध रहेंगे।

राष्ट्रीय सहारा 28.08.2014

महिलाएं चलाएंगी राशन दुकानें

संजय टुटेजा/एसएनबी

नई दिल्ली। राजधानी दिल्ली में सरकारी राशन की दुकानों का संचालन करने की जिम्मेदारी अब महिलाओं को दी जाएगी। महिलाओं को सशक्त व आत्मनिर्भर बनाने संबधी प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की योजना के तहत खाद्य एवं आपूर्ति विभाग ने यह निर्णय लिया है। विभाग मिशन कन्वर्जन के तहत गठित महिलाओं के स्वयं सहायता समूहों को दुकानों के लाइसेंस देगा। दुकानों के लाइसेंस मिलने से स्वयं सहायता समूहों में शामिल महिलाएं न केवल अपने खाली समय का सदुपयोग कर सकेंगी बल्कि वह

- 1400 स्वयं सहायता समूह हुए चिन्हित
- राजधानी में कुल 2500 सरकारी राशन की दुकानें

आर्थिक रूप से भी आत्मनिर्भर बनेंगी। राजधानी दिल्ली में लगभग 2500 सरकारी राशन की दुकानें हैं जहां खाद्य सुरक्षा योजना तथा एपीएल कार्ड धारकों को सस्ती दर पर राशन उपलब्ध कराया जाता है।

हाल ही में खाद्य एवं सुरक्षा विभाग ने इन राशन दुकानदारों को दी जाने वाले कमिशन को भी दोगुना कर दिया है। इच्छुक दुकानदारों को विभाग की ओर से सीमित अवधि के लिए लाइसेंस दिया जाता है और अवधि पूरी होने पर उन्हें लाइसेंस का नवीनीकरण कराना पड़ता है। वर्तमान में मौजूद 2500 दुकानदारों में बड़ी संख्या ऐसे दुकानदारों की हैं जिनके लाइसेंस की अवधि पूरी हो चुकी है।

उनके लाइसेंस का अब नीवनीकरण किया जाना है। जिन दुकानों के लाइसेंस की अवधि पूरी हो रही है उनके नवीनीकरण के समय दुकानों के लाइसेंस देने के लिए महिलाओं के स्वयं सहायता समूहों को प्राथमिकता दी जायेगी। खाद्य सुरक्षा कानून में भी उचित दर की राशन दुकानें चलाने के लिए महिलाओं के स्वयं सहायता समूहों को जिम्मेदारी देने पर बल दिया गया है। राजधानी दिल्ली में महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए मिशन कन्वर्जन के तहत गठित जैन्डर रिसार्स सेंटर के माध्यम से बड़ी संख्या में स्वयं सहायता समूह बनाये गये है जो अनेक सामूहिक गतिविधियों में शामिल हैं। उचित दर की दुकानें स्वयं सहायता समूहों को देने के लिए खाद्य एवं आपूर्ति विभाग के अधिकारी अब जैन्डर रिर्सास सेंटरों पर भी महिलाओं के समूहों से संपर्क कर रहे हैं। विभागीय सूत्रों के अनुसार महिलाओं के 1400 स्वयं सहायता समूह चिन्हित किये गये हैं जिनमें से 400 स्वयं सहायता समूहों के पास बैंक खाते भी हैं। राशन की सरकारी दुकान का लाइसेंस लेने के लिए बैंक खाता अनिवार्य है। विभाग के एक उच्चाधिकारी ने बताया कि कुछ नई दुकानें भी भविष्य में खोली जायेंगी इसके अलावा पुरानी दुकानों का भी नवीनीकरण किया जाना है, ऐसे में विभाग ने दुकानें चलाने के इच्छुक महिलाओं के छोटे स्वयं सहायता समूहों को चिन्हित करना शुरू कर दिया है। निकट भविष्य में कुछ स्वयं सहायता समूहों को दुकानों के लाइसेंस जारी कर दिए जाएंगे।

राष्ट्रीय सहारा 17.09.2014

'जन-धन' के बाद 'धन-सृजन' पर काम शुरू

ज्ञानेंद्र सिंह/एसएनबी

नई दिल्ली। 'जन-धन' योजना की भारी सफलता के बाद अब नरेंद्र मोदी सरकार की चिंता गरीबों के बैंक-खातों को भरने की है। इसका फार्मूला निकाल लिया गया है। गरीबों को छोटे रोजगारों से जोड़ने के लिए कौशल विकास नीति में बदलाव का फैसला लिया गया है। इस योजना का परिवर्तित नाम 'बहु कौशल विकास धन-सृजन नीति' होगा। इस 'धन-सृजन' नीति की घोषणा खुद प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी करेंगे। नीति निर्धारण के काम में वैसे तो कई नियामक सक्रिय हैं मगर कौशल विकास के प्रति मोदी की सोच को नई नीति का आधार बनाया गया है। इसका खुलासा मोदी ने स्वतंत्रता दिवस पर लाल किले के प्राचीर से अपने संबोधन में किया था।

पांच बिंदुओं पर राष्ट्रीय कौशल विकास एजेंसी (एनएसडीए) के विशेषज्ञों ने बारीकी से अध्ययन कर लिया है। कुछ विदेशी परामर्शदाताओं से भी इस संबंध में बात की गई है। वैसे तो नई नीति में सबसे अहम भूमिका एनएसडीए निभा रहा है मगर राष्ट्रीय कौशल विकास निगम व फिक्की कौशल विकास

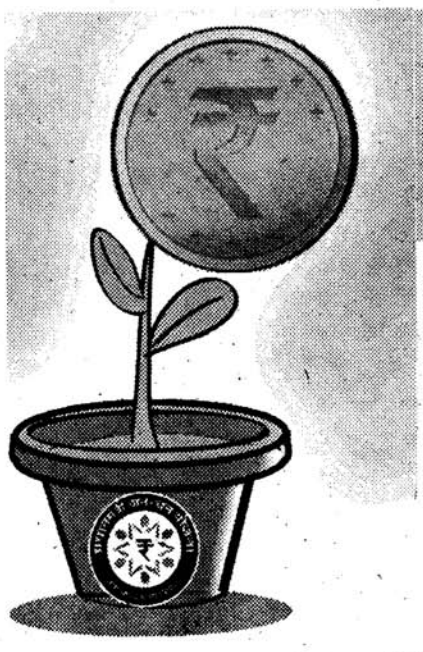

फोरम सहित देश विदेश की एक दर्जन से ज्यादा एजेंसियों को भी इसके साथ जोड़ा गया है। पूरे काम को एक मिशन का रूप दिया गया

- 'स्किल्ड डेवलपमेंट एंड स्किल्ड इंडिया' मिशन के तहत बहुरेगी गरीबों की जिंदगी
- गरीबों के खातों को भरने के लिए यूपीए की कौशल विकास नीति में होगा बदलाव

है। इसका नाम 'स्किल्ड डेवलपमेंट एंड स्किल्ड इंडिया' (कुशल विकास-कुशल भारत) रखा गया है। इस मिशन को पूरा करने के लिए तत्कालीन यूपीए सरकार की कौशल विकास नीति में बदलाव से लेकर 'स्किल्ड डेवलपमेंट एंड स्किल्ड इंडिया' मिशन को जमीन में उतारने की निगरानी कौशल विकास एवं उद्यमिता मंत्रालय कर रहा है।

नई नीति का आधार मोदी के भाषण के उन अंशों को बनाया गया है जिनमें उन्होंने युवाओं को छोटे-छोटे रोजगारों से जोड़ने और उनकी चैन बनाकर गरीब परिवारों में 'धन-सृजन' का सिलसिला शुरू करने की बात कही है। नई नीति में बहु-कौशल विकास की संभावना तलाश कर ग्रामीण क्षेत्रों के गरीबों को काम के नए अवसर उनके घरों में ही उपलब्ध कराने का बिंदु भी है।

'स्किल्ड इंडिया' मिशन में ज्यादा से ज्यादा महिलाओं को जोड़ने के लिए भी अध्ययन शुरू हुआ है। ताकि गरीब परिवार की महिला घरेलू काम निपटाने के बाद शेष समय अपने ही घर में किसी ऐसे काम में लगा सके जिससे उसके 'जन-धन' योजना के तहत जीरो बैलेंस से खुले बैंक खाते में 'धन-सृजन' हो। स्वतंत्रता दिवस पर प्रधानमंत्री के 'स्किल्ड इंडिया मिशन' संबंधी नारे को लागू करने के लिए मंत्रालय के आला अधिकारियों ने देश के उद्यमियों से अलग-अलग चर्चा शुरू कर दी है। उन्हें इस बात के लिए राजी किया जा रहा है कि 'स्किल्ड डेवलपमेंट एंड स्किल्ड इंडिया' मिशन को सरकार अकेले पूरा नहीं कर सकती। ऐसे में इसे पूरा करने के लिए उद्योगों की भागीदारी भी आवश्यक है। उल्लेखनीय है कि प्रधानमंत्री ने 15 अगस्त को कहा था कि अगर हम अपने देश में विकास को बढ़ावा देना चाहते है तो 'कौशल विकास' और 'कुशल भारत' हमारा मिशन होना चाहिए।

राष्ट्रीय सहारा 05.09.2014

देखी सुनी – मुख्य हिंदी समाचार पत्रों में छपने वाले महिला मुद्दों से सम्बन्धित खबरो व लेखो का त्रैमासिक संकलन है। संकलित लेखों में व्यस्त विचार लेखकों के निजी विचार है, ज़रुरी नही यह हमारी संस्थागत सोच व क्रियांवयन को दर्षाते हो।

Bread for the World, Misereor के सहयोग से प्रकाशित

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें–
जागोरी, बी–114, शिवालीक, मालवीय नगर, नई दिल्ली–110017,
फ़ोनः 011–26691219, 26691220
email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org,www.jagori.org